श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तकों

की

शुभ नामावलि

क्र०		नाम	राशि
१	❀	श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ	१०००)
२	❀	श्री ,, मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन मुजफ्फरनगर	१०००)
३	❀	श्री , प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी मेरठ	१०००)
४	❀	श्री ,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन मुजफ्फरनगर	११००)
५		श्री , सेठ शीतलदास जी जैन सदर मेरठ	१०००)
६	❀	श्री , कृष्णचन्द जी जैन रईस देहरादून	११११)
७	❀	श्री ,, दीपचन्द जी जैन रईस देहरादून	१०००)
८	❀	श्री ,, बाबूमल प्रेमचन्द जी जैन रईस मसूरी	११००)
९	❀	श्री ,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर	१०००)
१०		श्री ,, केवलराम उग्रसैन जी जैन जगाधरी	१०००)
११		श्री ,, जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन शिमला	१०००)
१२		श्री ,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन शिमला	१०००)
१३	❀	श्री ,, सेठ गैंदालालसा दगडूसा जी जैन सनावद	१०००)
१४		श्री ,, बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन रईस तिस्सा	१००१)
१५		श्री ,, मुकन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मंडी मुजफ्फरनगर	१००१)

❀ इस चिह्न वाले सज्जनों का पूरा रुपया कार्यालय में जमा है।

"तत्व-खोज से प्राप्त"

(सहजानन्द दैनदिनी सन् १९५२ से उद्धृत कुछ वस्तुत्वस्पर्शी वितर्क)

१०४२ जगत में अनन्त आत्मा हैं और उनसे भी अनन्त गुणे जड़ परमाणु हैं।

१०४३ वे सभी आत्मा व सभी अणु अनादि काल से हैं, अनन्तकाल तक रहेंगे।

१०४४ प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक अणु अपने आप सत् हैं, किसी की कृपा या असर से नहीं।

१०४५ प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी परिणति से ही परिणमते हैं, दूसरों की परिणति से नहीं।

१०४६ आत्मा की दो अवस्थायें होती हैं, पहिली अशुद्धावस्था दूसरी शुद्धावस्था।

१०४७ जहां आत्मा के पर में आत्मबुद्धि है अपनी या पर की पर्याय मे रुचि है वह उसकी अशुद्धावस्था है।

१०४८ जब आत्मा संकल्प विकल्प से रहित हो जाता है, ज्ञातामात्र रहता है वह उसकी शुद्धावस्था है।

१०४९ प्रत्येक आत्मा व अणु परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं किसी स्वरूप में किसी का प्रवेश नहीं है।

१०५० शरीर और आत्मा का परस्पर सम्पर्क होकर पशु पक्षी मनुष्यादि के रूप में होना अज्ञान दशा का फल है।

१०५१ अणुवों का काठ, पत्थर, ईंट, लोहा, सोना, चांदी, शरीर आदि स्कंध रूप में होना उनकी विकार परिणति का फल है।

१०५२ आत्मा निर्विकार होकर फिर कभी विकारी नहीं होता, परन्तु अणु निर्विकार होकर भी विकृत हो सकता है।

१०५३ आत्मा के विकार का कारण पूर्व विकार है, अणु के विकार का कारण उनके स्निग्ध रूक्ष गुण का परिणमन है।

१०५४ किसी भी आत्मा या स्कध के साथ अपना समवाय समझना अज्ञान है, दुःख का कारण है।

१०५५ आत्मा में उठने वाली रागद्वेषादि तरगे स्वभाव मे नहीं हैं इसलिये नाशवान् हैं व दु ख स्वरूप हैं।

१०५६ पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं जिसमें सामान्य अ श तो ध्रुव है, विशेष अ श अध्रुव है।

१०५७ द्रव्य के त्रैकालिक एकाकार स्वभाव को सामान्य कहते हैं और उसकी प्रति समय की अवस्थावों को विशेष कहते हैं।

१०५८ सामान्य की दृष्टि में विकल्प नहीं, विशेष की दृष्टि मे नाना विकल्प हैं।

१०५९ जीव के गुणों का सामान्य स्वभाव के अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्मावों मे इसी कारण परस्पर विलक्षणता नहीं होती।

१०६० मुक्तात्मा पूर्ण सर्वज्ञ हैं जिनकी सत्य उपासना होने पर उपासक के उपयोग में कोई व्यक्ति नहीं रहता।

१०६१ जिस भाव में व्यक्ति नही उस भाव में परमात्मा एक है वह भाव है शुद्ध चैतन्य भाव।

१०६२ कोई भी आत्मा परमात्मा हो शुद्ध चैतन्य भाव रूप ब्रह्म में मग्न हो जाता, उससे विपरीत सत्ता वाला नहीं रहता।

१०६३ यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यही "ॐ तत् सत्" यही "सत् चित् आनन्द" यही "सत्य शिव सुन्दर" है।

उक्त वितर्क वस्तुविज्ञान की कसोटी पर कसने से आत्मा में नई किन्तु चिरप्राचीन ज्योति प्रकट होती है। इस पर श्रद्धा करने वाला नियम से सर्व दुःखों से मुक्त होगा ही।

—मूलचन्द जैन,
मुजफ्फरनगर।

ग्रन्थकर्ताका संक्षिप्त परिचय

इस आध्यात्मिक ग्रंथके लेखक पूज्य १०५ क्षुल्लक श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्दजी महाराज हैं। इस वर्ष इन्दौर जैनसमाजके पुण्योदयसे आपका चातुर्मास इन्दौर नगरमें हुआ था। इन्दौरके जैन इतिहासमें आपका चातुर्मास अद्वितीय प्रभावना कारक रहा। प्रतिदिन प्रातःकाल एवं रात्रिको लाउडस्पीकर पर आपका आत्म कल्याणकारी सरल सुबोध उपदेश होता था।

चार पांच आम सभाओंमें भी आपका अमूल्य उपदेश कराया गया। एक आमसभा श्रीमत महाराजाधिराज इन्दौर नरेशके अध्यक्षतामें हुई थी। जिसमें लगभग बीस हजार जैन अजैन भाईयोंकी उपस्थिति थी। तथा जैनधर्मकी बड़ी प्रभावना हुई।

श्री दशलक्षण पर्वमें रात्रिको सभा मण्डपमें आप ही शास्त्र प्रवचन करते थे। जिसमें प्रतिदिन ४, ५ चार, पांच हजार जैन अजैन जनता मन्त्र-मुग्धकी तरह धर्मामृत पान करती थी।

आपका ३७ वीं वर्षगांठका उत्सवका कार्यक्रम जैन समाजकी ओरसे एक सप्ताह तक मनाया गया। जन्म दिवस ता. १३, १०, ५२ को अनभिषिक्त जैन सम्राट राव राजा श्रीमत सर सेठ हुकमचंदजी साहेब नाईट इन्दौर की अध्यक्षतामे मनाया गया था। जिसमें इन्दौर स्थित सभी जैन विद्वानोंने अपने भाषणोंमें आपको विनम्र श्रद्धांजलियां अर्पित की थीं। इस सभाकी उपस्थिति और

मनोरम दृश्य अवर्णनीय हैं। इन्दौर दि. जैन विद्वत् समितिकी ओरसे भी आपकी सेवामें एक अभिनन्दन पत्र समर्पित किया गया था। यह विद्वत् समिति श्री पू. क्षुल्लकजीके सहयोगसे स्थापित हुई है। इसके ३० तीस दि. जैन विद्वान सदस्य हैं। श्री स्याद्वाद बारिधि न्यायालंकार पू. पण्डित वंसीधरजी साहब इन्दौर इस समितिके अध्यक्ष हैं। इन्दौर विद्वत् समितिकी स्थापना करके पूज्य वर्णीजी महाराजने अपनी संगठन शक्तिका विशाल परिचय दिया है।

चातुर्मास समाप्ति पर आपकी विदाईके दिन प्रातः कालसे ही पूरे नगरमें हलचल सी पैदा हो गई थी, हजारोंकी संख्यामे स्त्री पुरुष आपको स्टेशन तक भव्य विदाई देने आए। जनताका स्नेह अविरल अश्रुधारामे प्रवाहित होने लगा पूज्यवर्णीजी तथा पण्डित महानुभावोंके उपदेश द्वारा समझाने पर तो यह विदाई का दृश्य विरहपीड़ाकी चरम सीमापर पहुंच गया। ऐसा प्रभावोत्पादक हार्दिक धर्म स्नेह गुणानुराग जीवनमें पहिली मर्तबा ही मैंने देखा है।

इतनी छोटी केवल ३७ वर्षकी आयुमें इतना निर्मल शास्त्रीय ज्ञान, सरलस्वभाव, चारित्र की उज्वलता, मंदकषाय, दूरदेशता, मिलनसारता आदि समस्त उत्कृष्ट मानवोचित सद्गुणोंका सद्भाव इस बातके द्योतक हैं कि प्रयत्न करने पर मनुष्य अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकता है।

अब मैं महाराजश्रीका कुछ संक्षिप्त परिचय दे देना उचित समझता हूं। ताकि पाठकगण इस महापुरुष के जीवन

के उतार चढाव को जानकर संसार का स्वरूप समझ सकें। जीवन परिचय लिखने का मुझे हक भी है। क्योंकि मैं महाराज श्रीके विद्याध्यन काल का कई वर्षों तक और आखरी तक साथी रहा हूं।

आपका जन्म कार्तिक वदी १० वि स १९७२ का है। सिर्फ ६ वर्ष की अवस्था में आपके पिता श्री गुलाबचन्दजी सा० का स्वर्गवास हो गया इस विपत्तिकाल मे आपके घर में विधवा माताजी और एक छोटा भाई था। पू माताजी के जिम्मे इन दोनों अबोध बालकोंके लालन पालनकी एक मात्र जिम्मेवारी आपड़ी। हजारों की साहूकारी जो पिताजी का व्यवसाय था चौपट हो गई फिरभी आपकी धर्मप्राण माताजी ने बडी ही गभीरता से यह सब सहा और बालक की पढाई में कोई बाधा उपस्थित नहीं होने दी।

आठ ८ वर्ष की अवस्था में ही आप सागर-सस्कृत-विद्यालय में पढने के लिये गये थे। यह था वह शुभ दिन जिस दिन से जैन धर्म के अध्ययन को प्रारभ किया जिसे पढ़कर इन्होंने ससार को आलोकित कर दिया। इसका श्रेय प्रात स्मरणीय पूज्यपाद १०५ श्री क्षुल्लक न्यायाचार्य पडित गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज को ही है। आपने ही बालक मनोहरलाल को सागर विद्यालय में प्रविष्ठ कराया था। आपकी स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र थी, क्षयोपक्षम अच्छा था। शास्त्रीय कक्षा के शास्त्रों को जिनके पाठ को याद करने के लिये विद्यार्थियों को प्राय ७-८ घन्टे परिश्रम करना पड़ता है। आप केवल १-२ दफे के वाचन मात्र से कण्ठस्थ कर लेते थे। यदि उस समय आपके क्षयोपशम का समुचित लाभ उठाया जाता तो आप अन्य कई भाषाओं के ज्ञाता होते।

यह बात खास ध्यान देने की है कि मात्र १७ साल की आयु में आप न्यायतीर्थ, शास्त्री परिक्षा में उत्तीर्ण हो गये थे।

आप छात्रावस्था में बड़े ही कोमल शरीर थे, स्वभाव के भोले भाले क्रोध और लडाई झगड़ों से कोसों दूर। अल्प भाषी, परन्तु जितना भी बोलते वह स्पष्ट और तीखा होता था। सक्षिप्त और सूत्र रूप भाषा बोलना आपका नैसर्गिक गुण था। हम सब बालक इनका आदर करते थे। गुरुजनों की शुभ कामनाएं एव आशीर्वाद आपके साथ थे। यह तो मै बतला ही चुका हूं कि आपकी तीक्ष्ण बुद्धि और स्मरण शक्ति की बड़ी विचित्रता थी। इसलिये पाठ याद करने की फिक्र और झझट तो थी ही नहीं अतएव आप खूब ही मन मौजी थे। एक बार आप हारमोनियम बाजा और बांसुरी खरीद लाये और न जाने अब कुछ ही दिनों में कैसे सीख भी लिये। अच्छा खासा मनोरजन हम सबका रहा। परन्तु यह ज्यादा दिन न चल सका और अधिकारियों की आज्ञा से यह गाना बजाना बंद कर देना पड़ा। पर एक बात अवश्य हुई साथी मनोहरलालजी को अपने मधुरकठ का आभास मिल गया। बाजा बजाने के साथ गाना भी गाना चाहिये, गाना दूसरों का लिखा हो यह उचित बात न जंची लिहाजा मनोहरजी ने स्वय भजन बनाना शुरु कर दिये। मतलब यह कि कविता करने की उमग और अभ्यास जगा। इसी का फल है कि श्री वर्णीजीने ग्रहस्थ जीवन में जो भजन लिखे हैं वे बड़े ही प्रभावोत्पादक हैं जिनका सग्रह "मनोहर पद्यावली" पुस्तक रूप से छप चुका है। आप अच्छे कवि, सुन्दर लेखक एवं महान व्याख्याता हैं।

हां, एक बात कहने से रह गई कि आपके दो विवाह

हुए । पहला १३ वर्ष की आयु के लगभग । पहली पत्नी के स्वर्गवास हो जाने पर कुटुंबीजन, गांववालों एव सास-ससुर की अत्यन्त प्रेरणा से दूसरा विवाह २० वर्ष की उम्र के लगभग हुआ । एक कन्या भी पैदा हुई किन्तु वह अल्पायु मे ही विलग हो गई । होनहार भविष्य तो और ही था । द्वितीय पत्नी भी २६ वर्ष की उम्र में इन्हें अकेला छोड़ स्वर्ग सिधार गई । द्वितीय पत्नी की रुग्णावस्था मे ही पू श्री ने आजन्म ब्रह्मचर्य के पालन का सकल्प कर लिया था ।

जब आप २० वर्ष के हुये और कानूनी वालिग बने तब अपने पिताजी की डूबी हुई कई हजार रुपयों की वसुली की मियाद बाहर होते हुये भी सरकारी आज्ञा प्राप्त कर ली । परन्तु कर्जदारों की गरीबी और उनके सद्व्यवहार का जब आपने अनुभव किया तब उन कागज पत्रों को समाप्त कर दिया गया तथा जो रुपया वसूलभी हुए उ हें धार्मिक कार्यों में और गरीबों के हित में खर्च कर दिये । इससे आस पास की जनता और सैकड़ों गांवों में आप अत्यत लोक प्रिय बन गये ।

आपने सिर्फ २७ वर्ष की तरुणावस्था में अनुकूल समय जान श्री सिद्धक्षेत्र शिखरजी पहुँच वहां अप नेशिक्षा गुरु प्रातः स्मरणीय पू क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज के चरणों में बैठ श्रावक व्रत ग्रहण कर लिये । अब क्या था ? संयम और ज्ञानाभ्यास के द्वारा परम सुख शांति प्राप्त करना ही परम लक्ष्य रह गया । एक वर्ष वाद ही २८ वर्ष की अवस्था में उक्त गुरुजी के समीप सप्तम प्रतिमा ग्रहण करली । धीरे धीरे परिणामों को निर्मल करते सन १९४९ के मध्य में आपने अपने पूज्य शिक्षा दीक्षा गुरु 'बड़े वर्णीजी से ही वर्तमान क्षुल्लक पद की दीक्षा ग्रहण करली ।

अब वर्तमान में आपके आध्यात्मिक; सरस, उपयोगी प्रवचनों से एवं स्वरचित ग्रंथों से तथा आपके द्वारा स्थापित उत्तर प्रांतीय दिगम्बर जैन गुरुकुल हस्तनागपुर एवं कई इतर संबधित संस्थाओं से जैन समाज का बडा कल्याण हो रहा है। जिसने एक बार भी आपके दर्शन और उपदेशामृत का पान करलिया वह आपका भक्त बन गया तथा आत्म विकास की ओर अग्रसर होने लगा। इन समस्त अनुरूप गुणों के कारण जनता आपको पूज्यपाद न्यायाचार्य प्रात स्मरणीय १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी महाराज के उत्तराधिकारी,, के रूप से सम्बोधित करती है। छोटे वर्णीजी और सचमुच आप इसी योग्य हैं भी।

पूज्य वर्णीजी महाराज की जन्म कुण्डली

७ सू शु	६ बुध	५ च
८		४ म के
९	श्री	३ श
१० रा		२
११ गु	१२	१

जन्म—कार्तिक कृष्ण ९ सोमवार रात्रि के पिछले समय ५॥ बजे। बुध उच्च, सूर्य नीच, मंगल नीच, शुक्र स्वग्रही। सिंह राशि

—संक्षिप्त में ग्रहों का फल—

(१) बुध लग्नेश और राज्येश होकर स्वयं लग्न में

उच्च का होकर बैठा है तथा किसी भी अन्य ग्रहकी शुभाशुभ दृष्टि से रहित है इसलिये आपकी शारीरिक प्रवृत्तियां लोकोत्तम रहेंगीं।

(२) शनि विद्याभवन का मालिक है उसपर ज्ञानकारक गुरु की पूर्ण दृष्टि है तथा गुरुशनि का महान् शुभ योग नवमपंचम योग हो रहा है इस योग में जातक तार्किक एवं बुद्धिशाली होता है।

(३) स्त्री तथा सुख भवन का मालिक गुरु खुद के व्यय षष्ठ स्थान में बैठा है तथा मंगल और शनि इन दो ग्रहों की उस या उसके स्थान पर दृष्टियां है। इस योग में स्त्री न रहे।

(४) शुक्र गुरु इन दोनों शुभ ग्रहों तथा आचार्यों का शुभ योग नवमपंचम योग है इस लिये प्रत्येक बात को बुद्धि की कसोटी पर कस लेना जातक का स्वाभाविक गुण रहेगा।

(५) चंद्रगुरु का समसप्तक होने सें विचारों में निर्मलता रहेगी।

(६) राहु मगल का समसप्तक योग होने से तथा सूर्यमगल जैसें क्रूर और नीचस्थ ग्रहों का केंद्र योग होने से जातक के कभी कभी उद्विघ्नता पैदा होने के कारण बनते रहेंगे परंतु वह अन्य बलवंत शुभ योगों के कारण क्षणिक होंगे।

(७) भाग्य और धर्म भवन का मालिक शुक्र अपने

घर को पूर्ण दृष्टि से देखता है इसलिये इसमें न्यूनता नहीं आने देगा। परंतु व्ययेश सूर्य की दृष्टि होने से निर्ग्रन्थ होने की भावना होते हुए भी वह पद धारण कर सकेंगे।

(८) विद्याभवन का मालिक शनि तथा भाग्येश शुक्र इन दोनों परम मित्रों का त्रिकोणेश होकर नवमपंचम योग हुआ है। इस योग में जातक अपनी विद्या का पूर्ण उपयोग करता हुआ धर्म में विशेष रूचि रखेगा यह योग इस पत्रिका में बड़े महत्व का है।

नोट–मैंने स्वय के फलितज्योतिष के अनुभव के आधार पर यह फलित लिखा है। आशा है इस विषय के अधिकारी विद्वान् अन्य उपयोगिताओं पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

कुन्दनलाल जैन शास्त्री
न्यायतीर्थ
मोती महल; इन्दौर.
१६-११-५२

संपादकीय वक्तव्य

पूज्य क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी गृहस्थावस्था में झांसी जिलान्तर्गत दुमदुमा गांव के निवासी हैं। आप गोलालारीय जाति के अवतंस हैं। कई वर्षो से आप ७ वीं प्रतिमा से चढ़कर ग्यारवीं प्रतिमा के व्रतों का आचरण करते आरहे हैं। आप प्रकृत्या हँस मुख और मिष्ट भाषी हैं। आप अध्यात्म-रसके रसिक हैं। आप के जितने भी उपदेश होते हैं आत्मा विषयक ही होते हैं। आपने करीब ३० ग्रन्थों की रचना की हैं उनमें से ३ ग्रन्थ तो प्रकाशित हो चुके हैं ये चौथा ग्रन्थ है। इसमें २२४ विषय प्रति पाद्य रहेंगे जो पांच खण्डों में वर्णित रहेंगे। इस ग्रंथ का नाम तत्त्व रहस्य है। जिसका ये प्रथम खण्ड है। इस प्रथम खण्ड में २७ विषयों का विवेचन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। हर एक विषय को व्यवहार और निश्चयनय से यथार्थ सिद्ध किया है। भाषा कुछ संस्कृत बाहुल्य होने से क्लिष्ट जरूर हो गई है लेकिन भाव से बड़ी सरस है। मुमुक्षु भव्यों के हित के लिये मैंने आपके कितने ही व्याख्यान जैन पत्रों में प्रकाशित करा दिये हैं।

महाराज जब व्याख्यान देते हैं तमाम जिज्ञासु जनता स्तब्ध हो जाती है। आपके व्याख्यानों में मूलतत्त्व को समझाने के लिये दृष्टान्तों का बड़ा सुन्दर चित्रण रहता है। दृष्टांतों में विषय को संघटित कर देने से उपस्थित जनता

मंत्रमुग्ध सी हो जाती है। प्रश्नों का समाधान बहुत अच्छे ढंग से प्रसन्न मुद्रा से करते हैं। क्रोध तो सायद आप के खजाने में है ही नहीं। बुन्देलखण्डीय भाषा के ललित शब्दों में आपका व्याख्यान बिलकुल प्राकृतिक अतएव मिष्ट वा ग्राह्य होता है।

आपने इस वर्ष इन्दौर की जनता के आग्रह से चौमासा इन्दौर में ही किया था चौमासे के पहिले ही आप जैन हृदय सम्राट अनेक पद विभूषित सरसेठ सा हुकमचन्द्जी सा. बुलावे पर इन्दौर आये थे। आपके द्वारा होने वाली तत्त्व चर्चा को सुनकर अध्यात्मरस प्रेमी सम्यक्त्वान्वेषी सरसेठसा. बहुत प्रभावितहुएसेठ सा० शहर से २ मील तुकोगंज में रहते हैं वहीं पर विद्वानों की गोष्ठी में बैठकर शास्त्र मनन करते हैं। आपका विचार हुआ कि महाराज के वक्तव्य का रस शहर की सारी जनता को भी मिले इसलिये महाराज के व्याख्यानों की व्यवस्था दीतवारया की जैन धर्मशाला में की गई। शहर की सारी जनता और विद्वान वर्ग आपके व्याख्यानों को सुनने को बड़ी संख्या में उपस्थित होने लगे। सभी जनता,कीइच्छा हुई कि महाराज का वर्षाकाल यहीं पर व्यतीत कराया जाय इसलिये महाराजजी से नम्र निवेदन किया, महाराज जी को लेने के लिये मेरठ मुजफ्फरनगर के पंचायती प्रतिनिधि इन्दौर में ही उपस्थित,थे फिर भी इन्दौर की जनता के आग्रह को न टाल सके अत एव इन्दौर में वर्षायोग करना निश्चित किया गया।

मैं भी महाराज के सान्निध्य में गया और यहीं से मेरा महाराज से परिचय हुआ। यों तो आपकी ख्याती मैं गजटों से जानता ही रहता था उनसे उत्सुकता भी आपके दर्शनों

की बड़ी उत्कट थीं परन्तु प्रत्यक्ष परिचय और व्याख्यानमाला ने मुझ पर अपूर्व प्रभाव डाला। इसमें संदेह नहीं कि आप सदृश विद्वान व्रती समाज में विचरें तो भोली जैन समाज का उद्धार हो जावे। दिगम्बर जैन समाज का इस शिक्षा की तरफ ख्याल कम ही है। चारित्र हो पर ज्ञान की उत्कटता न हो तो व्रती की शोभा नहीं होती। महाराज जी इस अपवाद को दूर कर दिया है। आप ज्ञान के साथ साथ अपने उपात्त दर्जे के आचरण में भी पूर्ण दृढ़ है। आपके दीक्षा शिक्षा गुरु पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय वंद्य १०५ क्षुल्लक न्यायाचार्य गणेश प्रशादजी वर्णी हैं। इनमें उनही की प्रकृति का पूर्ण प्रतिबिंब है।

इस ग्रंथ का स्वाध्याय सभी तत्व जिज्ञासुओं को करना चाहिये। वास्तव में देखा जाय तो तत्व ज्ञान के बिना रत्नत्रय की प्राप्ति होती ही नहीं है। तत्व ज्ञान के न होने से ही प्राणी मिथ्यात्व को अपनाये हुए हैं जिसके सबंध से पर पदार्थों के अपनाने में लोग सुख का अनुभव करते हैं सच्चे सुख की पहिचान करने से सदा विमुख रहते हैं। सच्चा सुख निराकुलता में पाया जाता है, निराकुलता पर पदार्थों से विवेक पूर्वक संबंध विच्छेद कर लेने से होती है। पर पदार्थों का विच्छेद तत्वज्ञान से ही होता है। तत्व रहस्य के पूर्ण ज्ञाता तो अर्हंत भट्टारक ही होते हैं, उस पद की प्राप्ति का मार्ग क्रम-क्रम से विकसित होता है, होता उसी आत्मा में है जिसका मिथ्यात्व बिलकुल दूर हो जाता है। मोही आत्मा कभी भी स्वसंमुख नहीं हो सकता है। मिथ्यात्व के छूटने से सम्यक्त्व होता है, सम्यकत्व के होने से स्वरूपाचरण चारित्र के साथ भेद विज्ञान होता है, भेद विज्ञान से भाव भासना होती

है फिर धीरे २ पर पदार्थों के संयोग से अरुचि और स्वस्व-रूप में रुचि होने लगती है उसी के साथ क्षयोपशमकी निर्मलता से पदार्थ का यथार्थ अवबोध होने लगता है जिससे पर परिणति छूटकर स्वस्वरूप में विचरण होने लगता है। ऐसी प्रक्रिया होने से सदा को निराकुलता हो जाती है इसी का नाम सच्चा सुख है, ऐसा सुख अक्षय होता है, अनंत होता है, पर निरपेक्ष तथा स्वाश्रित होता है। ऐसे सुख की ही वाञ्छा करनी चाहिये।

पर पदार्थ एक तो अपनी इच्छानुसार मिलते ही नहीं है क्योंकि उनका संयोग तो उपार्जित पुण्य कर्म के उदायानुसार ही होता है। पुण्य कर्म की पूर्णता तो निरपेक्ष्य केवली भगवान के ही होती है, सामान्य मोही संसारी प्राणियों के तो खण्ड २ ही पाया जाता है। इसी से भावना के अनुसार पदार्थों का यथेच्छ संयोग होता भी नहीं है, जितने का होता है वह भी हमेशा नहीं रहता है। उसका अंत नियम से होता है। पर पदार्थ का संयोग उत्कर्ष नहीं करता प्रत्युत अधः पतन ही करता है। इसीलिये तो हमारे पूज्य आचार्यों ने एक स्वात्मा के सिवाय बाकी सब पदार्थों को हेय बतलाया है। हमारे माननीय ग्रंथ प्रणेताने इसी रहस्य को हर एक व्याख्यान में खूब स्पष्ट किया है। जो भव्य इस ग्रन्थ का मनन पूर्वक शुद्ध चित्त से स्वाध्याय करेंगे उनका उपयोग बहुत ही निर्मल होगा।

इस ग्रंथ के साथ ही महाराज के द्वारा रचित सहजानंद गीता का भी पाठ लगा दिया गया है ये मूलश्लोक पाठ है इसके ८ अध्याय है हर एक अध्याय में विषय भिन्न २ है

तारीफ ये रक्खी गई है कि हर एक श्लोक के विषय का संबंध प्रत्येक श्लोक के चौथे चरण से रक्खा गया है ऐसी विशेषता बहुत कम ग्रन्थों में देखने को मिली है। इस गीता की ये हिंदी टीका खुद महाराज ने ही अन्वयार्थ के साथ की है जिससे श्लोकों के रहस्य को समझने में बड़ी सरलता हो गई है। सटीक गीता बाद में छपेगी। गीता में अध्यात्मतत्त्व ही भरा हुआ है, जो संस्कृत के जानकार विद्वान हैं वे गीता के रहस्य को ठीक २ समझ सकते हैं। कविता में लालित्य अच्छा है। अनुप्रास, अलंकार आदि से भी सुशोभित है। इस प्रकार महाराज के द्वारा रचित ग्रन्थों में इस चौथे ग्रन्थ के प्रथम खंड को पाठकों के हाथ में समर्पण करते हुए परम हर्ष हो रहा है। इसके संशोधन और सम्पादन करने में पूर्ण सावधानी रक्खी गई है फिर भी कई कारणों के साथ मेरा प्रमाद और अज्ञान भी एक कारण हो सकता है जिससे कहीं २ कोई संशोधन संबंधी त्रुटि रह गई हो तो पाठकवृन्द क्षमा करें और सुधार कर पढ़ें तथा शास्त्रमाला के कार्यालय को सूचित करते रहें ताकि आगे के एडीशन में उनका सुधार कर दिया जाय। इत्यलम्।

वी. नि. सं. २४७६
कार्तिक सुदी १५
इन्दौर।

समाज का अनुचर
मुन्नालाल जैन का. ती

प्रस्तावना

प्रकृत पुस्तक का नाम "तत्व रहस्य" है। तत्व शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार तत् शब्द से भाव अर्थ में त्व प्रत्यय करने से बनता है। तत् शब्द से क्या लेना और भाव शब्द का क्या अर्थ है, ये दोनों ही बातें तत्वज्ञानियों के सामने अब तक भी रहस्य मय बनी हुई हैं। कितने ही ज्ञानियों का कहना है कि तदिति एसा प्रकृतिः सामान्याभिधायिनी सर्वनामत्वात् सर्वनाम (सर्वेषां नाम इति सर्वनाम) च सामान्ये वर्तते कथनस्य तात्पर्यमिदं यत् "तत्" शब्देन सर्वेषामर्थानां (ये यथा अवस्थिता व्यवस्थिता वा तेषाम्) ग्रहणम् तेषां भावः तत्वम् वे समस्त ही पदार्थ कैसी अवस्था व व्यवस्था को लिये हुए हैं इसका सर्व सम्मत एक जवाब आज तक भी नहीं ज्ञात हो सका है। कितने ही ज्ञानियों की दृष्टि में जगत के दृश्यमान पदार्थ सब मायिक हैं अविद्या कल्पित हैं, झूठे हैं, अपरमार्थ हैं। एक मात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत् पदार्थ है। कितने ही दार्शनिकों ने बतलाया है कि न हम सत्यार्थ हैं न तुम सत्यार्थ हो न कोई भी सत्यार्थ है सब संवृतिमात्र हैं' कल्पना मात्र हैं। कितने ही योगियों ने बतलाया है कि यद्यपि चेतन पुरुष तत्व अनेक हैं परन्तु वे सब कूटस्थ नित्य अपरिणामी हैं। हां सारे जगत की एकमात्र कर्त्री प्रकृति है जो नित्य सर्वगत अरूपी निरनुयोज्य है। उस ही का किया हुआ यह सारा अंत जगत एवं बाह्य जगत है। कितने ही बुद्धिमानों ने बतलाया है कि (हमें अन्य बातों से जानने का कोई प्रयोजन

नहीं हमें तो देखना यह है) इस संसार में एक २ प्रदेशवाले अनित्य जुदे २ असाधारण स्वरूप को लिये हुए अनमिल अनंते परमाणु ही पदार्थ हैं उन सबों से मिलकर स्थिर स्थूल-साधारणाकार घटपटादि एवं गाय भैंस बैल मनुष्य आदि अवयवी पदार्थ दीखते हैं वे कल्पना शिल्पिकल्पित हैं परमार्थ सत् पदार्थ नहीं।

परन्तु तत्व दर्शी जैन तीर्थंकरों ने बतलाया है कि लोक में पाये जाने वाले समस्त ही मौलिक पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं। एक चेतन दूसरे अचेतन, चेतन पदार्थ भी अपनी २ सत्ता में प्रतिष्ठित अनंते हैं और अचेतन (पुद्गल आदि) पदार्थ भी परमाणु स्कन्ध के भेदों में विभक्त हो अनंते रूपों में पाये जाते हैं। चेतन पदार्थों में अनंते ही आत्माएं अनादि से मोह राग द्वेष काम क्रोधादि से मलिन होते हुए विविध आकार वाले शरीरों को धारण कर जगत में परिभ्रमण कर रहे हैं और अपने २ परिणामों वृत्तियों के अनुसार सुर असुर नारकीय पाशविक जीवन को व्यतीत कर अशांत एवं श्रांत हो रहे हैं। विशिष्ट पुण्योदय से कदाचित् मनुष्य शरीर को भी पाते परन्तु वहां पर भी प्रायः प्राकृतिक जन वैकल्पिक एवं आवश्यक सुखदायी पदार्थों के संचय करने में लगे रहने के कारण तत्व रहस्य को जानने के लिये प्रयत्न नहीं करते। जो सच्चे अर्थ में (मननशील) मानव हैं वे वस्तु और तत्त्व को जानने के लिये प्रयत्न भी करते हैं परंतु सर्वांगो पूर्ण रूप से वस्तु को जानने के लिये निरुपायहो तत्व रहस्य जानने में असमर्थ ही रहते हैं। याथार्थ्य यह है कि मौलिक तत्त्वों और उनकी अवस्थाओं का परिज्ञान "प्रमाण नयै रधिगमः" प्रमाण तथा नयों से होता है। प्रमाणज्ञान वह तत्त्वज्ञान कहलाता है जो बिना किसी की सहायता के एक ही साथ समस्त पदार्थों का प्रतिभास

कराहै। नय वे हैं जो वस्तु के अंशो का क्रम से ज्ञान कराने वाले हैं। नयों में समीचीन नय वे ही कहलाते हैं जो अपने विवक्षित अंश का ज्ञान करा कर भी अविवक्षित अंश का खंडन न करे प्रत्युत अपनी विवक्षा के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए बतलावे। अस्तु प्रत्येक ही मौलिक द्रव्य स्वतः सिद्ध सत् होते हुए भी प्रतिसमय परिणमन शील रहते हैं। वह परिणमन जब इकहरी अवस्था में होते है तब शुद्ध परिणमन कहलाता है और जब पर के संयोग सहयोग या अपेक्षा तथा आलंबन से होते हैं तब अशुद्ध कहलाता है। प्रत्येक मौलिक द्रव्य की तरह जब यह आत्म तत्व भी जोड़ तोड़ से रहित अपने आप में एक होता हुआ परिणमता है तब ही सत्यं-शिवं-सुन्दरम् जंचता है जैसा कि महर्षि कुंदकुंदाचार्य ने समयसार में कहा है कि "एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरोलोए-एयत्तस्सु-वलंभोणवरिण सुलहो विहत्तस्सतं एयत्त विहत्तं वाएहं अप्पणो सविहवेण। प्रत्येक वस्तु की वस्तुता इसी में है कि वह स्वरूप का ग्रहण तथा परात्मा का अपोह करते हुए सदा काल व्यवस्थित रहे। इसमें स्वरूप की ओर लेजाने वाले नयों को निश्चयनय और पर स्वरूप से हटाने वाले नयों को व्यवहार नय कहते हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत परस्पर विरुद्ध जैसे जंचने वाले सामान्य-विशेष, अभेद भेद, द्रव्य पर्याय, आदि धर्मों में से पहिले धर्मों को कहने वाले नयों को द्रव्यार्थिक नय और बाद के धर्मों को कहने वाले नयों को पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

इस प्रकार के २७ नय युगलों के द्वारा क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी (सहजानंद जी महाराज) ने स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रवेश करते हुए तत्व रहस्य समझाने का प्रयत्न किया है जो अत्यंत सराहनीय है ऐसे ही विचारों में रह अंत में वे स्वयं भी शांति और आनंद का अनुभव करते हैं और आशा है कि अन्य भव्य जन भी निराकुलता का स्वाद प्राप्त कर सके हैं।

वंशीधर जैन
प्रधानाध्यापक सर स. हु. दि. जैन महाविद्यालय
जंवरी वाग-इन्दौर

प्रकाशकके दो शब्द

प्रिय पाठकवृन्द' हमें इस बातका परमहर्ष है कि जिन ग्रन्थोंका प्रकाशन आवश्यक अनुभव हो रहा था अब वे ग्रन्थ क्रमशः प्रकाशनमें आने प्रारम्भ हो गये हैं, इस सबका श्रेय हमारे साहित्य प्रेमी प्रवर्तक महानुभावों को है। जिस संस्था-से ये ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं उसकी स्थापना हुए अभी १। वर्ष ही हुवा है। प्रारम्भ होनेसे पहिले श्रीमान ला महावीर प्रसादजी बैंकर्स सदर मेरठने स्वय सत्सङ्गके निवासपर आकर इस बातका अनुभव किया और स्वयं १०००) रुपया लाकर हमें दिये और कहा कि महाराजश्रीके ग्रंथोंका प्रकाशन शुरु कीजियेगा, उसके लिए यह हमारी भेंट है। उस ही दिन इस शास्त्रमालाकी स्थापना हुई और कार्य प्रारम्भ किया गया, इसकी ओरसे अब तक ३ प्रकाशन हो चुके हैं यह ४ था प्रकाशन है। पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराजने यह तत्त्व-रहस्य ग्रन्थ बड़े तत्त्वविचार से निर्माण किया है इसमें प्रत्येक विषयोंका निश्चय व्यवहार को घटाकर उनका रहस्य बताया है।

इसवर्ष चातुर्मास इन्दोरमें हो रहा है, श्रीमान् अनेक पदविभूषित रावराजा श्रीमन्त सेठ सर श्री हुकमचन्दजी सा० नाईटने अनेक वार पत्रों द्वारा आग्रह करके पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराजका इन्दोरके लिए स्वीकृति प्राप्त की, तथा लेनेकेलिये इन्दोरसे भेजे हुए भाईके उत्तरप्रान्तसे आनेमें समाजद्वारा अनेक रुकावट

होने पर भी सर सेठ सा की ओरसे किये गये निवेदनने इन्दोर पहुँचा ही लिया । इस कार्यमे श्रीमान् ब्र छोटे-लालजी महाराज व श्री भगत सुमेरचन्द्रजी वर्णीका सर सेठ सा. को बहुत सहयोग प्राप्त हुवा । यहां जैन समाजके धुरन्धर कितने ही विद्वान निवास करते है उनमेंसे श्रीमान प. बशीधरजी न्यायालकार व श्रीमान प. नाथूलालजी शास्त्री, श्रीमान प. मुन्नालालजी धर्मरत्न काव्यतीर्थ, श्रीमान प. कुन्दनलालजी न्यायतीर्थ, श्रीमान पं० धन्यकुमारजी एम. ए. जैनदर्शनाचार्य आदि विद्वानोंने पूज्य श्री महाराजजी द्वारा रचित ग्रथोंका समवलोकन किया, सभी विद्वानोंने इन ग्रंथोंकी महती सराहना करके इनके प्रकाशनके लिए मुझे उत्साह दिया, एव श्री सर से० रावराजा हुकमचन्दजी सा. ने तो आत्मसम्बोधन ग्रन्थके पूर्ण स्वाध्यायके बाद ग्रन्थों और इस शास्त्रमालाकी बड़ी सराहना करके कहा—कि इन ग्रन्थोंका प्रकाशन बहुत जरूरी है, और समाजको इन ग्रन्थों का प्रकाशन करने वाली इस शास्त्रमालाको हर प्रकारका पूरा सहयोग देना चाहिये ।

कुछ बाधाओंके उपस्थित होनेके कारण मेरठ से २०००) का तथा मुजफ्फरनगर से ११००) का ड्राफ्ट इन्दौर पहुँचने पर भी ग्रंथ प्रकाशनके कार्यको पहिलेसे न कर सके अब असौज सुदी ८ से सहजानंदगीता, जीवस्थानचर्चाकी प्रेस कापी उपस्थित होने पर भी समयकी कमीके कारण इस तत्त्वरहस्य ग्रन्थको ही प्रकाशित करा सका हूँ, इसकी आगेकी प्रेसकापी न हो सकनेसे इस ग्रन्थके २२४ विषयों में से २७ विषयोंका ही प्रकाशन हुवा है । तथा अनेक भाइयों का सहजानंदगीताके प्रकाशनका बहुत आग्रह होनेसे मूलश्लोका का पाठ भी इसमें प्रकाशित कर दिया है ।

यह "सहजानंदगीता" इटावासे फिरोजाबाद अपने गुरु पूज्य श्री १०५ क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी "न्यायाचार्य" के साथ विहार करते समय पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी न्यायतीर्थ "सहजानद" महाराज ने बनाई है। एक दिन में २५ श्लोकों का निर्माण किया और १५ दिन में यह गीता बना ली। इन दोनों ग्रंथोंका सम्पादन श्रीमान प्रतिष्ठा दिवाकर धर्मभूषण पं. मुन्नालालजी काव्यतीर्थ प्रतिष्ठाचार्य इन्दौर ने अपने वा सामाजिक अनेक कार्योंके होते हुए भी अपना अमूल्य समय देकर आनरेरी तोरसे किया है इस के लिए मैं उनको अनेक धन्यवाद देता हुवा उनका अत्यत आभारी हूं। तथा इस ग्रथके प्रस्तावना लेखक समाजके सुप्रसिद्ध विद्वान सिद्धान्त महोदधि प. वंशीधरजी न्यायालंकार प्रधानाध्यापक स. हु. सस्कृत महाविद्यालय इन्दौर के भी हम अत्यंत आभारी हैं जिन्होने मेरे निवेदन को स्वीकार कर अपने अमूल्य समय को व्ययकर इस ग्रंथकी प्रस्तावना लिखी है। एवं पं. कुन्दनलालजी न्यायतीर्थका भी हम आभार मानते हैं जिन्होंने पूज्य महाराजजीका आद्योपान्त्य जीवनचरित्र लिख दिया है।

श्रीमान सर सेठ सा व जैन समाज इन्दोरको भी धन्यवाद है जिनकी सद्भावनाओं से इस कार्य को कर सका हू।

इस समय मैं श्रीमान ब्र. छोटेलालजी महाराजको नहीं भूल सकता जिन्होंने पूज्य श्री 'सहजानन्द" महाराजके साथ ४ माह रहकर बड़ी प्रसन्नतासे धर्म साधन करते हुए सहजानदगीताको जल्दीसे जल्दी प्रकाशित होनेकी वार वार प्रेरणा की है और महाराजजीको इसका अन्वय अर्थ कर देनेको वाध्य किया, उनकी सत्प्रेरणा से महाराजजीने अनेक

कार्यों के होने पर भी करीब २० दिनमें अन्वय अर्थ कर दिया है इसको प्रेसकापी भी बनी हुई रक्खी है।

जिन जिन महाशयों ने इस शास्त्र मालाको आर्थिक सहायता प्रदान की है उन सबके लिए धन्यवाद ! क्योंकि उनके इन सहयोगके बिना ग्रन्थोंका प्रकाशन असंभव था, उनमें से प्रवर्तक महानुभावों के नाम इस ग्रन्थ में उल्लिखित हैं।

श्रीमान डाक्टर सा जयप्रकाशजी जैन साहिया (देहरादून) वाले अनेक धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने साहित्य प्रेमवश इस सहजानंद शास्त्र मालाके किसी किसी ग्रन्थके मूल्य कम करने के लिए ५००) प्रतिवर्ष आजीवन प्रदान किये हैं, गतवर्ष का ५००) प्राप्त हो चुका है जिससे आत्म सम्बोधन या सहजानन्दगीता सार्थ जिनका कि अब २ माहबाद प्रकाशित होना प्रारम्भ होगा, उसकी लागत में ५००) कम करके मूल्य निर्धारित होगा।

वर्तमानमें इसके सहायक सदस्य जिनका रुपया संस्था में आचुका है निम्नप्रकार है।

१. श्री महावीरप्रसादजी बैंकर्स सदरमेरठ १०००)
२. ,, ला. मित्रसेन नाहरसिंहजी जैन. मुजफ्फरनगर १०००)
३. ,, ,, प्रेमचन्द ओमप्रकाशजी जैन प्रेमपुरी मेरठ १०००)
४. ,, ,, सेठ भ्रचन्द लालचन्दजी जैन, मुजफ्फरनगर ११००)
५. ,, ,, कृष्णचन्दजी जैन रईस देहरादून ११११)
६. ,, ,, दीपचंदजी जैन रईस देहरादून १०००)
७. ,, ,, बारूमल प्रेमचन्दजी रईस मंसूरी ११००)
८. ,, ,, मुरारीलालजी बाबूरामजी ज्वालापुर १०००)
९. ,, ,, चौ चिम्मनलालजी जैन देहरादून २५०)

१०. श्रीमान् पिरथ्वीसिंहजी जैन देहरादून २५०)
११ ,, ,, जिनेश्वरदासजी जैन सराफ देहरादून २५०)
१२. श्रीमती धर्मपत्नी बा० जैनबहादूर जैन देहरादून २५०)
१३ श्रीमान् रतनलालजी सेठी दीतवारिया इन्दौर २५०)
१४ ,, ,, हीरालाल माणिकचन्दजी जैन लुहारदा २५०)

उक्त सहायक महानुभावों के अतिरिक्त निम्नलिखित महानुभाव और हैं जिन्होंने अपने सदस्य होनेकी स्वीकृती दी और निम्नलिखित सहायता प्रदान की। यह रुपया अभी उन्हींके यहां जमा है जिन्हें प्रकाशन कार्य प्रारम्भ होते ही भेज देनेको कह दिया है।

१ श्री ला. सेठ शीतलदासजी जैन सदरमेरठ १०००)
२. ,, ,, गेंदालाल पूनासा सनावद १०००)
३ ,, ,, उग्रसेन केवलरामजी जैन जगाधरी १०००)
४ ,, ,, जिनेश्वरलालजी जैन शिमला १०००)
५. ,, ,, निर्मलकुमारजी जैन शिमला १०००)

उक्त सभी सदस्य धन्यवादके पात्र हैं। अन्तमें हम पूज्य श्री १०५ क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी और उनके पट्ट शिष्य इस ग्रन्थके लेखक पूज्य श्री १०५ क्षु. मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराजका बहुत बहुत आभार मानते हैं जिनके प्रसादसे हम अपने धर्मध्यान में सानन्द समय बिताते हुए अपना जीवन सफल कर रहे हैं।

प्रकाशक—

२	१
आनन्दप्रकाश जैन	ब्र. जीवानंद जैन
B Com L.L B	अध्यक्ष

कोठी नं २०१ सदर मेरठ
मन्त्री

सहजानंद शास्त्रमाला

इस तत्त्वरहस्य ग्रंथमें सम्प्रति २२४ विषय हैं जिससे कि यह ग्रंथ ५ भागोंमें प्रकाशित होगा अतः पाठकोंकी जानकारीके अर्थ तत्त्वरहस्यके सर्व विषयोंकी सूची प्रकाशित की जा रही है

तत्त्वरहस्यके विषयोंकी सूची

१४६ कुबुद्धिपथगमन-वेश्यागमन
१५० अनात्मग्रहण-चौर्य
१५१ परदेहरुचि- परस्त्रीसेवन
१५२ निश्चयसम्यक्त्वगुण-व्यवहारसम्यक्त्वगुण
१५३ सप्तभयशंकारहितता-जिनवचननिःशंकता
१५४ इन्द्रियविषयसुखनि कांक्षा-परवस्तुनिःकांक्षा
१५५ आत्मपदनिर्विचिकित्सा-अपवित्रवस्तुनिर्विचिकित्सा
१५६ शुद्धात्मनिमूंढता-कापथनिमूंढता
१५७ विभावधर्मोपगूहन—अशक्तकृतनिन्दोपगूहन
१५८ शुद्धस्वरूपोपबृंहण-व्यवहारमोक्षमार्गोपबृंहण
१५९ शिवमार्गस्वस्थितिकरण शिवमार्गपरस्थितिकरण
१६० स्वरत्नत्रयवत्सलता सहधर्मिवत्सलता
१६१ आत्मज्ञानविकास-व्यवहारमोक्षमार्गोद्योत ।
१६२ निजोदितरत्न-रुढरत्न
१६३ सुबुद्धि-लक्ष्मी
१६४ अनुभूति—कौस्तुभमणि
१६५ वैराग्य—कल्पवृक्ष
१६६ सुवचन—संख
१६७ उद्यम-ऐरावत
१६८ प्रतीति-रंभा
१६९ उदय-विष
१७० निर्जरा-कामधेनु
१७१ आनंद-अमृत
१७२ ध्यान-धनुष
१७३ प्रेम-मदिरा
१७४ विवेक-वैद्य

१७५ शुद्धभाव-चंद्रमा
१७६ मन-तुरंग
१७७ निजरस—नाटकरस
१७८ ज्ञानभूषणविचार—शृङ्गार
१७९ कर्मनिर्जरोद्यम-वीर
१८० आत्मवत्सर्वभूतमनन—करुणा
१८१ स्वानुभवोत्साह-हास्य
१८२ कर्मविनाश-रौद्र
१८३ देहाशुचिचिन्तन-वीभत्स
१८४ आत्मशक्तिचिन्तन-अद्भुत
१८५ दृढ़वैराग्यधारण-शान्त
१८६ जन्मादिदुःखचिन्तन-भयानक
१८७ अध्यात्मतप-बाह्यतप
१८८ अनशनस्वभावभावना-अशनत्याग
१८९ अल्पभोजनसंतोषभाव-ऊनोदर
१९० ज्ञानमात्रनिवास-विविक्तशय्यासन
१९१ आहारलाभाभावभावना-व्रतपरिसंख्यान
१९२ इन्द्रियविषयरसत्याग-रसत्याग
१९३ कायोपेक्षाभाव-कायक्लेश
१९४ अकार्यभावना-प्रायश्चित्त
१९५ अनुवृत्तिभाव-विनय
१९६ खेददूरीकरणभाव-वैयावृत्य
१९७ स्वरूपावधारण-स्वाध्याय
१९८ ज्ञानमात्रभवन-ध्यान
१९९ कायनिर्ममत्व-कायोत्सर्ग
२०० चैतन्यवंशपावनस्वयपुत्र-अंगजपुत्र

२०१ विशुद्धपरिणामजनकस्वयजनक-जनक
२०२ स्वधर्मसमुदायसहवासीस्वयबन्धु-बन्धु
२०३ अभीष्टज्ञापकस्वयंगुरु-गुरु
२०४ हितप्रयोक्तास्वयआचार्य-आचार्य
२०५ प्रतिबोध्यस्वयशिष्य—शिष्य
२०६ स्वप्रदेशगृह-गृह
२०७ ज्ञानधन-धन
२०८ स्वयं दर्शनवाधकरागादिनिवारणभावनिःसहि-जिन-
दर्शनसम्मुखस्थनिवारणभावनिःसहि
२०९ स्वस्थानप्रवेशभावना-भूताधिष्ठितस्थानप्रवेशाज्ञा
२१० आत्मरतिहेतुनिष्फल-उदयागतिसूचकआसहि-स्वस्था-
नगतिहेतु-अतंत्रतादायकआसहि
२११ ध्यानविचलितपरिणामदूरीकरणक्षमा-गतिकालक्षमा-
याचना
२११ परिणामपरिणामिभाव-निमित्तनैमित्तिकभाव
२१३ अहिंसाधर्म-दयाधर्म
२१४ प्रमत्तयोग प्राणिपीड़ा (हिंसा)
२१५ अनात्मवार्ता—दुःखदवाक्य (असत्य)
२१६ अनात्मग्रहण-परग्रहण (चौर्य।
२१७ स्वभावच्युति-स्त्रीगमन (कुशील)
२१८ मूर्च्छा-बाह्यवस्तु (परिग्रह)
२१९ वीतरागपूजा-देवपूजा
२२० रत्नत्रयोपास्ति—गुरूपास्ति
२११ स्वज्ञप्ति—स्वाध्याय
२२१ स्वसंयमन—इन्द्रियप्राणिसंयम
२२३ निरीहता-तप
२२४ परभावत्याग-दान

तत्त्व रहस्य [प्रथम भाग] की विषयानुक्रमणिका

॥ नमः सिद्धाय ॥

अध्यात्म योगी शान्तिमूर्ति न्यायतार्थ
पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'सहजानंद'
महाराज द्वारा विरचित

तत्व रहस्य [प्रथम भाग]

(१)

मंगलाचरणम्

वन्दे स्वभाव्यभाविन्या निश्चयेनाचयाचयम् ।
ईशं कायमनोवाग्भिर्व्यवहृत्या चयाचयम् ॥

अन्वयः—निश्चयेन अचयाचयं ईशं-परमात्मतत्त्वं स्व-भाव्यभाविन्या परिणत्या अहं वन्दे । व्यवहृत्या चयाचयं ईशं-परमात्मरूपं कायमनोवाग्भिः वन्दे ।

अर्थः—निश्चयनयसे जो न चयस्वरूप है और न अचयस्वरूप है ऐसे शुद्ध आत्मतत्वको, स्वं ही जहां भाव्य है और स्व ही जहां भावक है, ऐसी निज परिणति के द्वारा मैं-नमस्कार करता हूँ, तथा व्यवहारनयसे जो

चय और अचय दोनों रूप है ऐसे परमात्माको या परमात्मस्वरूपको शरीर मन और वचनोंके द्वारा नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य:—शुद्ध आत्मतत्त्वको निश्चयनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह स्वयं अखण्ड, परिपूर्ण, स्वतन्त्र, परके लेशसे रहित, अविनाशी है, उसमें कोई चय (संग्रह) नहीं है अर्थात् उसमें ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको आवेष्ट बताना विकल्परूप होनेसे शुद्ध निश्चय नयमें नहीं है। और इसी प्रकार अचय (अचयसे भाव यहां तोडका है) भी एक विकल्प है, अर्थात् उस पिण्डीभूत तत्त्वमेंसे कोई गुण प्रथक् करके वर्णन करना भी शुद्ध निश्चयनय में नहीं है। इसलिये निश्चय नयसे जो तत्त्व चय अचय दोनों विकल्पोंसे रहित है उसे निज भाव्यभावकभावसे नमस्कार किया है। यहां शुद्धतत्त्वका शुद्ध नमस्कार बताया है। वह तत्त्व जहां निजमें भाव्य अर्थात् होने योग्य और भावक अर्थात् हुवाने वाला होता है-याने जहां द्वैधा भाव नहीं है वही भाव आराध्य है और वही भाव आराधक है। इस भावसे-इस परिणतिसे, यहां नमस्कार किया है, इसे भाव नमस्कार कहते हैं। निश्चयनयकी दृष्टिसे यह ही तात्त्विक नमस्कार है। जहां स्वरूपाचरण हो जाता है वहां द्वैधीभाव या विकल्प नहीं होता है परन्तु स्वयं परि-

पूर्ण, अखंड, स्वतंत्र, अपनेमें एक, अन्य सर्व पदार्थोंसे विविक्तका अनुभव होता है।

अब उस परमात्मस्वरूपको विचारा जाय तो वह स्वरूप चय और अचय दोनों करके सहित है। यहां व्यवहारदृष्टिसे तत्त्वकी खोज है, उसमें क्या क्या गुण हैं यह देखा जा रहा है-ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, अस्तित्व वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व, प्रमेयत्व आदि अनंतगुणोंका उसमें चय है, परन्तु वह संग्रह बाहरसे कहीं से भी आकर नहीं हुआ, वस्तु जैसी है वैसी बताने केलिये वस्तुमें स्वभावसे ही रहने वाले गुणोंका यह भिन्न रूपसे प्रतिपादन है। इसलिये व्यवहारनयसे परमात्मस्वरूपको चयरूप बतलाया है। इसी तरह व्यवहारनय से परमात्मस्वरूप अचयस्वरूप है-अर्थात जो भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं उनका यहां सद्भाव नहीं, तथा किसी भी परद्रव्य, परप्रदेश, परपरिणति, परशक्तिका यहां संग्रह नहीं—समावेश नहीं है। इसलिये वह परमात्मस्वरूप अचय कर सहित है। उस परमात्माको अर्थात परमात्मस्वरूपको विशुद्ध मन वचन कायसे नमस्कार किया है। जब किसी शुद्धतत्त्वका एकमात्र लक्ष्य होजाता है, तब उसमें स्थिरता न होने पर उस तत्त्ववानके प्रति जो भी उस भक्त के पास हो उस सबका उसीके आदरके

प्रति उपयोग करता है। यहां प्राकृतिक प्रयत्नको देखो कहीं भक्त धन वस्त्र आदिके द्वारा आदर नहीं करता, वे तो आत्मासे कुछ भी संयोग नहीं रखते। मन वचन काय यद्यपि आत्मासे पृथक्स्वरूप और पृथक् उपादान वाले हैं, तथापि व्यवहारदृष्टिसे संयुक्त हैं, अतः मैं भी मन वचन कायको संम्हाल करके परमात्माको इस अवयावय एवं वयावय स्वरूप निजतत्वके अनुभव के अर्थ नमस्कार करता हूँ।

निश्चय-व्यहार

(२)

ज्ञान होनेके दो प्रकार हैं--एक तो वस्तुके अभेद एवं अंतरंग विषयकी मुख्यतासे होने वाला, इसे निश्चय कहते हैं। दूसरा वस्तुके भेद, विशेष एवं बहिरंग विषयकी मुख्यतासे होने वाला, इसे व्यवहार कहते हैं। इन दोनों दृष्टियोंके आधारसे आत्मा, ज्ञानोपाय, आत्म-प्रवृत्ति आदि तत्त्व वर्णनीय हैं। वस्तुका पूर्ण स्वरूप न केवल निश्चय से गम्य है, और न केवल व्यवहारसे गम्य है। तथा वस्तुस्वरूप जाने बिना कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका अनुसरण व अवहेलन नहीं हो सकता। अतएव जो भी वर्णन करूँगा उसमें यह देखना है कि निश्चयसे क्या और व्यवहारसे क्या है। एक यह भी विशेष ध्यान देने की बात है कि व्यवहारके समक्ष निश्चय तत्त्व ग्राह्य है और वह निश्चयतत्त्व इसलिये ग्राह्य है कि परमतत्त्व जो आत्माकी निर्विकल्पदशा उसमें परिणत कर देनेके पहिले प्राग्रूप निश्चय है। इसी प्रकार निश्चयका प्राग्रूप व्यवहारका बोध भी आवश्यकीय है। निर्विकल्पदशा में परिणत जीवके न निश्चयतत्त्व का ग्रहण है और न व्यवहारतत्त्व का ग्रहण है। जैसे कोई दाहिनी आँख

से देखे, कोई बाँई आंख से, कोई दोनों आंखसे देखे और कोई दोनों आंखें बन्द कर अंतर्दर्शन करे। इसी तरह कोई निश्चयसे जाने, कोई व्यवहारसे जाने, कोई प्रमाणसे जाने, कोई नयप्रमाणके उदयसे रहित निर्विकल्पदशामें अंतर्दर्शन करे, यह चौथी बात ही मुमुक्षुओंका लक्ष्य होता है और एतदर्थ ही प्रयास है। यही सार है, सर्वोपरि है। निश्चय, व्यवहार सापेक्ष हैं। जहां यह वर्णन हो कि निश्चयनयसे ऐसा है वहां उसी से यह ध्वनित होता है कि व्यवहारनयसे अन्य प्रकार है। तथा जहां यह वर्णन हो कि- व्यवहारनयसे ऐसा है वहां यह ध्वनित हो गया कि निश्चय नयसे ऐसा नहीं हैं। निश्चय व्यवहार अपेक्षाकृत हैं, प्रकरण वश निश्चयनयका जो विषय बताया जा रहा है वही विषय अन्य अंतरंगदृष्टिके मिलते ही व्यवहारनयका हो जाता है। ये अस्थिरतायें बोधमें दूषण पैदा नहीं करतीं, प्रत्युत बोधको स्पष्ट और दृढ बनाती हैं।

स्वार्थप्रयास-परार्थप्रयास

(३)

इस ग्रन्थके वर्णनका प्रयास मुझ आत्मामें हो रहा है। इसका फल विचार, वितर्क या उपयोग लगना, अन्य सर्व ओरसे उपयोग हटना, चित्तकी चंचलता न होना आदि है, सो यह भी मुझ आत्मामें हो रहा है। इसका हेतु रागका उदय है, उसकी वेदनाका यह प्रतिकार है, तथा वर्तमान परिचयादि सम्बन्धमें आये हुये ये मुमुक्षु मित्रजन जो कि निश्चयतः स्वयं निर्मलताके अभिमुख हैं, तथापि यतः निश्चय या निश्चयके फलमें न मैं मग्न हूँ और न वे मग्न हैं, ततः "वंगापतित व्यवहारके कारण मेरा समझे हुए तत्त्वका प्रदर्शन यदि बधुंवोंके कल्याणका साधक हो सके तो कहूँ" इस भावनाका परिणमन भी मुझमें हो रहा है, उससे प्रेरित हो कर होने वाला यह प्रयास भी मुझ में ही है। अथवा जीवनका समय चिन्ताओंमें या बाह्य वितर्कोंमें जाना श्रेयस्कर नहीं है, उसकी निवृत्तिकेलिये एवं स्वयंका भी बोध वा निर्मलता बढ़े तदर्थ हुआ प्रयास मुझमें ही है। अतः स्वार्थप्रयास निश्चय है।

जिन लोगोंकी परिणति विशुद्ध होनी है उस समय यदि यह रचना निमित्त पड़े तब वहां परार्थप्रयास

भी है, अथवा इसका रहस्य अन्य सज्जन भी जानें, या जाने हुएको दृढ़ करें इस कल्पनामें पर आत्मा विकल्पके आश्रय हुए, अतः यह भी परार्थप्रयास है। स्वार्थप्रयास तो निश्चय है और परार्थप्रयास व्यवहार है। स्वार्थप्रयास की दृष्टिके मुख्य रहने पर किसी भी व्यवसायको करता हुवा भी ज्ञानी प्राकरणिक, (कर्ता) नहीं होता, असंतुष्ट और संक्लिष्ट नहीं होता, तथा अपनी कमियों को समझता है, एवं दूर करनेका समय २ पर समाधिबल का प्रयोग करता रहता है। अथवा सहज ही जागृत हुई समाधि, उस के कल्याण का कारण होती है। और परार्थप्रयासकी व्यवहारदृष्टि मुख्य होनेपर आत्म विश्राम नहीं होता।

अध्यात्म और आगम

(४)

बाह्य पदार्थके अवलंबनकी मुख्यतासे होने वाला, नाना विकल्पोंसे युक्त बाह्य-स्पर्शी बोध, आगमिक कहलाता है, क्योंकि आगमका अर्थ है आ समन्ताद्गमनं आगमः=इतस्ततः [सर्वज्ञ परंपरा के अनुकूल यहां वहां से) लाया हुआ। इसलिये आत्मामें आत्माकेद्वारा सहज हुए बोधके अतिरिक्त जितने भी परोपदेश, शास्त्र आदिके अवलंबनसे उत्पन्न बोध हैं, वे आगमिक कहलाते हैं।

आत्मानुभवकी मुख्यतासे होनेवाला अभेदवाही (अभदे-की ओर उन्मुख रहनेवाला) अंतःस्पर्शी बोध आध्यात्मिक कहलाता है। क्योंकि अध्यात्मका अर्थ है-आत्मनि इति अध्यात्म, जो स्वयं आत्मा में हो, अतः यह स्वाधीन निश्चित प्रमाणका रूप है, और पदार्थोंके निर्णयकी मुख्यतासे होनेवाला विभिन्न बाह्यमुखी बोध आगमिक कहलाता है।

आध्यात्मिक विषय निश्चयका विषय होता है और आगमिक विषय व्यवहारका विषय होता है। आध्यात्मिकज्ञानमें स्वयं दृढता रहती है, आगमिक ज्ञानमें श्रद्धाके कारण दृढ़ता आती है। आध्यात्मिक ज्ञान स्वानुभूति है, और आगमिक ज्ञान स्वानुभूतिके अर्थ है।

आगमिक ज्ञान कारण है और आध्यात्मिक ज्ञान फल है। आध्यात्मिक अनुभवमें बाह्य विकल्प नहीं, इतनी ही बात नहीं, किन्तु आगमिक विकल्प भी नहीं है। अतः इस दृष्टिसे यह कहना अयुक्त नहीं कि आगमिक ज्ञान, आगामिकज्ञानके अभावके लिये है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव की कर्म आदिकी विविध दशाओंके ज्ञान का प्रयोजन व फल यही है-जो उनके द्वारा तत्त्वका निर्णय करके उन सब विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प दशा रूप रहे। इसी भावको "आगामिकज्ञान आगमिकज्ञानके अभावके लिये है" इन शब्दोंसे कहा गया है। यह आध्यात्म प्रवर्तक आगम ज्ञानका अभाव आगमज्ञानकी कृपासे हुआ है, यदि कोई विशिष्ट पुरुष आगमिकज्ञान की विशेषता न रखता हो परन्तु यदि मोह कर्म पर विजय प्राप्त करनेकी कुशलता पाई हो तब वहभी अन्य मोक्ष पथिक महापुरुषोंकी भांति फल पानेमें रंचमात्रभी पीछे नहीं रह सकता, और आगमिकज्ञानी यदि आध्यात्मिकता नहीं पासका तो वह नियमसे मुक्तिफलसे वंचित रहा, अतः आध्यात्मिकताका कारण रूप जो मोहका विनाश है वही उपादेय है। उसके साथ २ ही आगमिकता कार्यकारिणी है।

(५)

सप्तनय व उपचार

आगमिक ज्ञान दो प्रकारसे होता है--एक तो सप्तनयों द्वारा, दूसरे उपचार करके। सातों नय उसही वस्तुमें रहनेवाले धर्मोंका उसही वस्तुके विषयमें प्रतिपादन करते हैं। और उपचार दूसरी वस्तुके धर्म या संबंध का दूसरी वस्तुमें प्रतिपादन करता है। उपचार-प्रकार बहिरंग विषयक होनेसे व्यवहार है, यह दूसरेके धर्मको दूसरे द्रव्यमें आरोप करता है, व दूसरे वस्तुके सम्बन्धसे दूसरा व्यवहार करता है। जैसे जिस घटमें घी रक्खा था या रक्खा है या रक्खा जायगा, उसे घीका घड़ा कहना। घड़ा घीका नहीं है मिट्टीका ही है, किन्तु उसमें घी रक्खा था या रक्खा है या रखनेके इरादेसे लाया गया है, इतने संबंधमात्रसे घीका आरोप किया, वह अन्यका अन्यमें उपचार करनेसे व्यवहारका विषय है।

सप्तनय उसही वस्तुके धर्मोंको उसही वस्तुमें कहते हैं। यद्यपि इसमें कई नय अभेदस्पर्शी हैं कई नय भेद स्पर्शी हैं तथापि उपचारके समक्ष सातों नय अंतरंग हैं अतः निश्चयरूप हैं। इनका विशद वर्णन आगे किया जावेगा। किन्हीं विद्वानोंने तो उपचारको मुमुक्षुजनों के स्वहितमें अकिंचित्कर होनेसे अवर्णनीय ही माना है।

और इस दृष्टिमें यह बात है भी ठीक, किन्तु भले प्रकार तत्त्व निर्णय करनेके लिये व्यवहाररत जनोंको उपचारके उपायसे बोध कराके फिर वास्तविकता पर पहुंचाया जाता है, अतः कुछ प्रयोजनवाला है। जैसे कोई बालक घृतपूरित घड़ेको घीका घड़ा ही सुनता आया है, अन्य घड़ेके परिचयसे रहित है, उसे व्यवहार कार्यकी पूर्तिके लिये 'घीका घड़ा लाओ' आदि वाक्योंसे कहा जाता है, तथा वास्तविकता भी यदि कोई समझना चाहे तो उस बालकको ऐसे शब्द कहने पड़ेंगे कि हे बालक! जो यह घीका घड़ा है सो घीका बना हुआ नहीं है, किन्तु मिट्टी का बना हुआ है। यहां उस बालकको वास्तविकता समझनेके लियेही प्रथम प्रयोगके द्वारा उपयोग पहुँचाने रूप प्रयोजन हुआ है तथा व्यवहार पूर्तिमें तो सदा वह प्रयोग प्रयोजन रखता है।

(६)

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय--
उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय

सप्तनयोंमें कुछ नय अभेदस्पर्शी हैं, और कुछ नय भेदस्पर्शी हैं, परन्तु उन सबका जो वर्णन है वह व्यवहार का ही कार्य है।

उस व्यवहार के '२ भेद हैं--१--सद्भूतव्यवहारनय २ असद्भूतव्यवहारनय।

उसही वस्तुका गुण उसीमें कहना सद्भूत व्यवहार है, और दूसरे द्रव्यके संबंधसे हुए गुण दूसरेमें कहना सो असद्भूत व्यवहार है। येही दोनों व्यवहार जब परकी अपेक्षा उपचरित (व्यवहृत) होते हैं तब ये उपचरित हैं। और जब स्व की अपेक्षासे व्यवहृत होते हैं तब अनुपचरित कहलाते हैं।

उपचरितसद्भूत—यथा-"आत्मा स्वपरका ज्ञाता है" इसमें ज्ञातृत्व गुण आत्माका है, आत्मामें प्रदर्शित किया गया यह सद्भूत है और ज्ञातृत्व गुणको आत्मा गुणीसे भेद किया गया है, यह अंश व्यवहारका है, और पदार्थोंके अवलम्बनसे उपचरित कियागया यह उपचरित का अंश है।

इससे यह श्रद्धा करो कि ज्ञातृत्व तो स्वयंही है, पर का तो उपचार है।

उपचरित असद्भूत-यथा-बुद्धि (समझ) में आने वाले क्रोधादिकोंको आत्माके कहना। ये क्रोधादिक विभाव केवल जीवके नहीं हैं, पौद्गलिक कर्मके विपाकज हैं, फिरभी जीवके कहना यह तो असद्भूत है, आत्मामें जोड दिया हुवा यह व्यवहार है, क्रोधादिकोंको क्रोधादि समझकरकेभी उन्हें जीवके बतलायेगये यह उपचरित है।

इससे यह श्रद्धा करो, ये क्रोधादिक आत्माके स्वरूप नहीं है, इन्हें अपनाकर दुखी होना मूर्खता है, इनसे रहित सहज ज्ञान आत्माका स्वभाव है, वही मेरे प्रकट रहो।

यहां उपचरित असद्भूत व्यवहार कर्म विपाकज विभावका विषय करनेका कारण व्यवहारनयका विषय है, और उसके समक्ष उपचरित सद्भूत व्यवहार आत्माके सद्भूत सहज ज्ञान दर्शन भावको विषय करने से निश्चयनयका विषय है, उपचरितता तो ज्ञानमें विषयभावको प्राप्त हुए ज्ञेयकी ज्ञेयताके संबंधसे हुई है।

उपचारित सद्‌भूतव्यवहारनयकी दृष्टिमें परमात्मा की सर्वज्ञता अबाधित है।

१—वस्तुके सर्व गुण वस्तुके प्रदेशोंमें ही होते हैं प्रदेशोंसे अन्यत्र आधार नहीं होता इस न्यायसे परमात्माका ज्ञान गुण भी परमात्म प्रदेशोंमें ही व्यापकर अपनी अवस्थायें करता है, इसलिये निश्चयसे वह आत्मज्ञ है, परन्तु ज्ञानगुणकी स्वच्छताके कारण समस्त ज्ञेय पदार्थोंका प्रतिभास होता है अतएव सर्वज्ञेयके सम्बन्धसे कहीजाने वाली सर्वज्ञता उपचरित सद्‌भूतव्यवहारनयका विषय है।

(७)

अनुपचरित सद्भूतव्यवहार व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार।

जिस पदार्थमें जो गुण है उसे विशेषकी अपेक्षा रहित सामान्य रीतिसे उसीका कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है।

यथा--"ज्ञान जीवका गुण है" यद्यपि ज्ञानमें अनेक ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं तथापि यहां अवलंबन व विशेष दोनोंकी अपेक्षा न रखकर वर्णन है। सारांश यह है कि ज्ञान सदा जीवका ही अनुजीवी गुण है, उसका अस्तित्व स्वयं है, इसही ज्ञायक भावका अनुभव सम्यग्दर्शन है।

परके निमित्तसे होनेवाले उन भावोंको जो बुद्धि (समझ) में नहीं आते उपादानके कहना सो अनुपचरित असद्भूतव्यवहार है।

यथा--"अबुद्धिगत क्रोधादिक जीवके कहना, यहां जो क्रोधादिक भाव सूक्ष्म हैं उनका उपचार तो होता नहीं, अतः अनुपचरित हैं--केवल जीवके नहीं हैं इसलिये असद्भूत हैं, तथा जीवमें जोड़े गये हैं इसलिये व्यवहार हैं।

इससे ऐसा विश्वास करना चाहिये कि जीवमें सहज होनेवाले ज्ञायकभाव व अन्य अनुजीवी गुणोंके शुद्ध परिणमनके अतिरिक्त जो भी विभाव परिणाम है। चाहे वह कैसाही सूक्ष्म हो, जीवका स्वरूप नहीं, कल्याण व सुखका स्थान नहीं है, अतः विभाव रहित सहज परिणमन ही सार है, शरण है, वही प्रकट होओ। अन्य सब असार हैं, मायिक हैं।

यहां अनुपचरित असद्भूत व्यवहार कर्म विपाकज विभावोंको विषय करनेके कारण व्यवहार नयका विषय है। अनुपचरितता तो बुद्धिगत न हो सकनेके कारण है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार आत्माके सद्भूत सहज स्वभावको विषय करनेके कारण निश्चय नयका विषय है, व्यवहार नय तो कथनके कारण है।

इस अनुपचरित सद्भूत नयकी दृष्टिमें परमात्मा आत्मज्ञ है। क्योंकि यह नय अनुपचरित है ज्ञानके विषयभूत ज्ञेयके अवलंबनसे रहित है--और यह अवलंबन-रहितपना--इस नयके विषयके कथनमें नहीं, किन्तु अनुभवमें है। द्रव्यकी अपेक्षा अनेकताका अभाव है, क्षेत्र की अपेक्षा व्याप्यताका अभाव है, कालकी अपेक्षा विश्लेषताका अभाव है, और भावकी अपेक्षा परभावका अभाव है। यह अनुभव परमामृत है।

अचय—संधि-विग्रह [जोड-तोड]

(८)

चयान्निष्क्रान्तो निश्चयः, इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ होता है "जो बटोरनेसे दूर है वह निश्चय है" अर्थात् अचयको निश्चय कहते हैं। यह जैसा वस्तुका स्वरूप है उतने मात्रकोही जनाना चाहता है। मिलावटसे दूर है। इसी प्रकार वस्तुके गुणोंको भी नहीं कहना चाहता, क्योंकि यह वस्तुका तोड़ है जिस तोड़से वस्तु पूर्ण नहीं रहती। इसकी दृष्टिमें अंश विशेष कल्पना रहित वस्तु जानी जाती है। ऐसी प्रतीतिही सम्यग्दर्शन है। जब तक इसकी प्रतीति नहीं तब तक भ्रम रहता है।

विशेषेण अवहरणं व्यवहारः, व्यवहार जोड़ और तोड़ को कहते हैं।

जो वस्तुका स्वभाव नहीं उसे जोड़ना व्यवहार है जैसे आत्मामें रागादिक हैं या कर्म नोकर्म हैं।

वस्तुके गुणोंका भिन्न भिन्न वर्णन करना तोड़ है, जैसे जीवके ज्ञान है, दर्शन आदि। जीव सिर्फ ज्ञान ही नहीं, सिर्फ दर्शन भी नहीं, किन्तु सकल गुणोंका पिण्ड रूप एक वस्तु है।

फलितार्थ यह है कि यावन्मात्र वर्णन है वह व्यव-

हार है। किन्तु जो निश्चय तत्त्वको नहीं समझता है उसे समझानेका उपाय ही यह व्यवहार है।

जैसे कोई म्लेच्छ संस्कृत भाषा नहीं समझता उसे कोई स्वास्ति कहे तो वह चकितसा रह जाता है, यदि कोई दूसरा पुरुष जो संस्कृत व म्लेच्छ-दोनों भाषाओंको जानता है वह म्लेच्छ भाषामें बोलनेके उपायसे म्लेच्छ को उसका अर्थ समझा देवे, तब वह म्लेच्छ आनन्दित होता है। इसी तरहसे निश्चय व्यवहार तत्त्वके जानने वाले आचार्य व्यवहारनयके उपायसे व्यवहारियोंको निश्चय तत्त्व समझानेकी करुणा करते हैं।

समझाने और समझनेके अवसरमें संधिविग्रह प्रयोजन-भूत हैं, तथापि वस्तु केवल और पूर्णरूपको ग्रहण न करनेके कारण व्यवहार हैं। और अचय जोड़ और तोड़से दूर रहनेके कारण वस्तुके केवल और पूर्णरूप पर लक्ष्य कराता है, अतः निश्चय है।

केवल–उपचार

(६)

केवल अर्थात् मात्र वस्तु परही दृष्टि रहना निश्चय है। जो वस्तुमात्रसे कुछ अधिक या वस्तुके अंशोंका वर्णन करना है वह वस्तुमात्रकी दृष्टिसे बाहरकी दशा है। अतः उसे उपचार कहते हैं।

उपचारका अर्थ है–उप=समीपे चारयति उपचारः, जो वस्तुके पासही घुमावे उसे उपचार कहते हैं, उपर्युक्त दृष्टि वस्तुमात्रके बाहर उसके पासही भ्रमाती है।

उपचारका विषय उपचारके रूपसे जाननेमें निश्चयके विषयकी ओर झुकाव होता है। यदि उपचार रूपसे न समझा, तब वह दृष्टि संसार वर्द्धक है। यथा इन्द्रिय शरीर आदि जीवके कहे जाते हैं परन्तु केवल जीवके नहीं हैं, पुद्गलकर्मके उदयसे ये होते हैं, इसलिये जीवमें इनका उपचार किया जाता है।

उपचार रूपसे ये जीवके हैं, भूतार्थ नहीं। इस दृष्टिमें जीवके कहे जाकरभी निषेध लक्ष्य है। यदि ऐसा न हो तो वहिरात्मत्त्व (मिथ्यादृष्टित्व) ही है।

इसी प्रकार जो सकल परमात्माके देह, वंश, वाणी आदिका वर्णन करके परमात्माकी स्तुति करता है वह

उपचारसे स्तुति है। केवल जीवके स्वभावका वर्णन करके जो स्तुति है जैसे—'आप निर्मोह हैं' 'विश्वज्ञाता हैं' आदि वह वास्तविक स्तुति है।

जैसे किसी मूढ धनीके वैभवका वर्णन किया जायकि 'आपके सात खंडका मकान है' तो वह ऐसा खुश होता है मानों उसी पुरुषके सात खंड हों। इसी तरह पुत्र स्त्रीकी प्रशंसामें खुश होता है, यह सब क्यों ? इसलिये कि वह परको अपनाही स्वरूप समझता है। यदि उसे बोध हो-जाय कि यह सब उपचार हमारे व्यवहारी जन बताते हैं, तो उसे केवलका भी बोध होजाय और वह विकलता रहित होजाय।

इसलिये सबको जानना ठीक है, परन्तु दोनों दृष्टियों की पहिचानके साथही जानना ठीक है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक

(१०)

द्रव्यं अर्थः प्रयोजन यस्यासौ द्रव्यार्थिकः अर्थात् द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक कहलाता है। त्रिकाल-वर्ती विशेषरहित, किन्तु विशेषगतगुणपिंड वस्तुको द्रव्य कहते हैं, जिसकी दृष्टिका विषय यह द्रव्य है वह द्रव्या-र्थिक है।

पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्यास्ति सः पर्यायार्थिकः अर्थात् पर्याय जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक कहलाता है। भिन्न २ कालवर्ति उत्पन्न और नष्ट होनेवाली द्रव्यकी अवस्था विशेषको पर्याय कहते हैं। जिस दृष्टिका विषय यह पर्याय है वह पर्यायार्थिक है।

पर्यायार्थिक दृष्टि--भिन्न २ विशेषको ग्रहण करता है, जो सदा रहनेवाले भी नहीं और किसी विशेष समयमें उत्पन्न होते हैं। ये विशेष वस्तुके अनादि, अनंत, अचल रूप नहीं हैं, अतः यह वर्णन व्यवहार है, और द्रव्य अनादि, अनंत, अचलरूप है इसलिये यह निश्चयका विषय है।

व्यवहारका विषय जानकर यदि वह प्रतिषेध्य हो अर्थात् ये वस्तुके सहज रूप नहीं हैं इस दृष्टि पर पहुँच

तब व्यवहारदृष्टिका लाभ उठाया समझिये, अन्यथा अनादिसे ही अनंत आत्मा विशेषको अपनाते हुये चले आरहे हैं, और संसार बढ़ा रहे हैं।

द्रव्यार्थिक दृष्टिसे जब द्रव्यका स्वरूपावगम होता है तो उसके बाद ही आत्माका अनुभव विशेषदृष्टिसे रहित होनेके कारण निर्विकल्पतामें परिणत होजाता है। यह दृष्टि आज तक जीवने नहीं पाई, और यदि कभी पाई भी, तो व्यवहारका सर्वथा विरोध करके।

अतः मुमुक्षुका कर्त्तव्य है, कि अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले व्यवहारनयका विरोध न करके शुद्ध द्रव्यका निरूपक निश्चयका अवलंबनकर उससे भी आगे बढ़कर निर्विकल्प आत्म परिणतिका दर्शन करे, इसे सम्यक्त्वानुभव कहते हैं।

निरपेक्ष–सापेक्ष

(११)

निश्चयनयका विषय अखंड द्रव्य है, वह विशेषोंकी अपेक्षा नहीं करता, अतः निरपेक्ष है। व्यवहारनयमें द्रव्यका अंश विषय होता है और विशेषकी अपेक्षा रखता है, अतः सापेक्ष है।

आत्माका निरपेक्ष परिणमन विसंवाद व अशुद्धतासे रहित है, अतः सुख स्वरूप है। सापेक्ष परिणमन अशुद्धता विवाद, आकुलता, स्वरूपच्युतिसे युक्त है, अतः दुख रूप है। निरपेक्ष परिणमन जिस दृष्टिका विषय हो वह विषय निश्चय है, और सापेक्ष परिणामन जिस दृष्टिका हो वह व्यवहार है।

शास्त्रोंके द्वारा व उपदेश द्वारा, व अपने मनन द्वारा, मनके अवलंबनसे स्वरूप बोध होता है, इसके बाद आत्माका सहजरूप चिन्तवन करते करते जब शास्त्रादि विकल्पसे निरपेक्ष होजाता है और मनसे भी अतीत होजाता है, उस क्षण जो अवाच्य किन्तु अनुभाव्य जो निराकुल परिणमन है, वह निरपेक्ष सुख है, इसपर दृष्टि लानेवाला निश्चय निरपेक्षनय है।

परकी आशा प्रतीक्षा आश्रय कर जो अशान्तरूप

परिणमनका भोग है वह दुःखरूपही है, मोहके उदयमें यह जीव उसमेंभी कभी कभी सुखकी कल्पना करता है, और कभी २ अत्यन्त उद्विग्न होजाता है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रका अवलंबनही धर्मका सर्वस्व समझकर अपनी स्वतन्त्रवृत्तिको खोदेता है। अपनेको बनाने वाले किसी अन्य ईश्वरादि चेतन द्रव्यका स्वयंको कठपुतला समझ कर अपने सत्य आत्मदर्शनरूप पुरुषार्थको खोकर दीन बना रहता है। पुत्र, मित्र, स्त्री, बंधु आदि से ही सुखकी प्राप्ति मानकर अपनेको सुखगुणका अनाश्रय बनाकर गरीब ही बना रहता है।

हा! अद्यावधि यह जगत् निरपेक्ष परिणमनका स्वाद न पा सकनेसे असार वस्तुओंको आत्मसमर्पण किये हुए है।

भगवन्! आप इस परमानन्दमें निमग्न हों, मैं आपमें निमग्न रहूँ, फिर वह वृत्ति भी अत्यन्त निकट ही है।

स्वाश्रित=पराश्रित

(१२)

जो केवल निजके आश्रयसे बोध कराता है वह स्वाश्रित निश्चय है। और जो परके आश्रयसे बोध कराता है वह पराश्रय व्यवहार है।

स्वाश्रितनय वस्तुके सहज तत्त्वको बताता है, इस सहज तत्त्व रूप जिनका पूर्ण परिणमन होजाता है, वे सब प्रकारके दुःख तथा सब प्रकारकी मलीनतासे मुक्त होजाते हैं। प्रायः सर्व संसारी प्राणियों की दृष्टि पराश्रित है, अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा सुख दुःखको भोगकर मलीन बने रहते हैं।

जो पराश्रितनयका विषय है वह अभावरूप या माया रूप नहीं है, है तो अवश्य, परन्तु आत्माके हितरूप नहीं, अविनाशी नहीं, पराधीन है इसलिये प्रतिषेध्य है।

स्वाश्रितनयकी दृष्टिके अनंतर इस दृष्टिके विषयभूत निर्विकल्पतत्त्वका परिणमन होसकता है। अर्थात् व्यवहार के विषयसे अतीत होजाता है अतः यह स्वाश्रितनय ग्राह्य है व प्रतिषेधक है। परन्तु व्यवहारका विरोध करनेवाला हितपंथ नहीं पासकता। इसलिये निश्चयदृष्टिको अवलंबन करते हुए भी व्यवहारका विरोध करनेका अभिप्राय न

हो, वह तो स्वयं प्रतिषेध्य होजायगा, व्यवहार दृष्टिमें सत्य व्यवहारके विषयका अभाव कहनेवाला आस्तिक नहीं कहला सकता।

यदि यह व्यवहारका विषयभूत जगत् जो मोही प्राणियोंका विषयग्राम बन रहा है, सर्वथा असत्य हो तो फिर दुःखही किस बातसे हो, अन्यथा आकाशके फूलोंकी मालाएँ बनना क्यों असंभव हो ?

अहो! यह संसारी जन्तु विषयोंका ही परिचय और अनुभव कर पराश्रित दृष्टिसे अपनेको खो बैठा है, और जगह जगह अपनेको (सुख) खोजता फिरता है।

हे आत्मन्! एकबार ही तो समस्त विकल्पजालको छोड़कर स्वाश्रित दृष्टि कर।

सुख तो अब तक तू अपने माने हुए कामोंमें भी नहीं पा सका, एक बार पराश्रय रहित दृष्टिका ही प्रयोग कर देख।

भूतार्थ—अभूतार्थ

(१३)

भूत-अर्थ=जो स्वयं हुआ अर्थ है वह भूतार्थ है। जो परकी अपेक्षाके बिना होवे अथवा जो त्रिकाल रहे-ऐसा ध्रुव भाव, इसे सत्यार्थभी कहते हैं। इसका विषय शुद्धात्मस्वरूप है। फिरभी इसके दो भेद हैं—एक शुद्ध भूतार्थ दूसरा अशुद्ध भूतार्थ।

शुद्धभूतार्थमें तो नवतत्त्वकी कल्पना नहीं, अशुद्ध-भूतार्थमें नवतत्त्व हैं परन्तु जीवमें ही उनकी प्रतिष्ठा है।

अ-भूत-अर्थ=जो स्वयं नहीं हुआ अर्थ है वह अभूतार्थ है-जो परकी अपेक्षासे होवे, अथवा जो त्रिकाल न रहे ऐसा क्षणस्थायी भाव, इसे असत्यार्थभी कहते हैं। इसका विषय शुद्धात्मस्वरूपसे अतिरिक्त भाव है। इसके भी दो भेद हैं—एक शुद्ध अभूतार्थ दूसरा अशुद्ध अभूतार्थ।

शुद्ध अभूतार्थ और अशुद्ध भूतार्थका विषय समान है, परन्तु अशुद्ध भूतार्थ तो परकी अपेक्षा बिना विषय अवलोकन करता है और शुद्ध अभूतार्थ परकी अर्थात् निमित्तकी अपेक्षा रखकर अवलोकन करता है।

अशुद्ध अभूतार्थकी वृत्ति उपचारसे होती है।

अशुद्ध अभूतार्थसे शुद्ध अभूतार्थ, शुद्ध अभूतार्थसे अशुद्ध भूतार्थ, अशुद्ध भूतार्थसे शुद्ध भूतार्थ अंतरंग विषय वाले हैं।

जो क्रमशः अंतरंगमें पहुँचकर शुद्ध भूतार्थके विषय-भूत–आत्मस्वरूपका अवलोकन करते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं।

यहां यह तात्पर्य नहीं है—कि–अभूतार्थ सर्वथा असत्यही है, किन्तु भूतार्थकी दृष्टिमें यदि अभूतार्थ असत्य है तो अभूतार्थकी दृष्टिमें भूतार्थभी असत्य है।

वस्तुका स्वभाव, पर निरपेक्ष स्वसत्तारूप है, और यह भूतार्थका विषय है। इसलिये-सति भवः अर्थः= सत्यार्थः केवल स्वसत्तामें होनेवाला अर्थ, सत्यार्थ है, और वस्तुके स्वभाव विरुद्ध होनेवाला अर्थ स्वयं असत् है। अतः अभूतार्थ-असत्यार्थ है। किन्तु वह है अवश्य, हां उसकी दृष्टिमें संसार है और भूतार्थकी दृष्टिमें संसार का अभाव है।

भूतार्थ निश्चय है अभूतार्थ व्यवहार है।

परमार्थ-अपरमार्थ

(१४)

परा मा-लक्ष्मी यस्यासौ परमः परमश्चासौ-अर्थश्चेति परमार्थः, अथवा परमः अर्थः प्रयोजनं यस्यासौ परमार्थ-स्तद्विपरीतोऽपरमार्थः—वस्तु की लक्ष्मी वस्तुका विकार रहित स्वरूप ही है। तब परमार्थका यह अर्थ हुआ-जो उत्कृष्ट स्वरूपवान् पदार्थ अथवा उत्कृष्ट स्वरूप सहित पदार्थ जिस नयका प्रयोजन है वह परमार्थ नय है। उस से उलटा अपरमार्थनय है, परमार्थ निश्चयका विषय है, और अपरमार्थ व्यवहारका विषय है।

जो भव्य परमभावका अनुभव कर लेते हैं, उन्हें शुद्ध (श्रप) नयका ही उपदेश है। और जो भव्य अपरम भावमें स्थित हैं उन्हें व्यवहारसे ही उपदेश होता है। अर्थात् व्यवहार उन्हें प्रयोजनवान है।

जैसे--जो पूर्ण शुद्ध सुवर्णके परिज्ञानी हैं उनको कुछ भी अशुद्ध सुवर्ण प्रयोजनवान नहीं है। क्योंकि अशुद्ध सुवर्णमें परम सुवर्णका अनुभव अब उन्हें नहीं है, किन्तु जो शुद्ध स्वर्णके ज्ञानी नहीं हैं उन्हें अशुद्ध स्वर्ण प्रयोजन-वान है।

यहां परमभाव तो अभेद रत्नत्रयमें परिणत समाधि

भाव है, और अपरमभाव शुभोपयोग तथा भेदरत्नत्रय का भाव है। सो यह अपरमदशा शुभोपयोगकी मुख्यता की अपेक्षा चौथे, पाँचवें, भेदरत्नत्रयकी मुख्यताकी अपेक्षा छठे, सातवें गुणस्थानोंमें है।

तात्त्विक आनंद निर्विकल्प समाधिरूप परमदशामें है। इस आनंदकी बाधिका बाह्य दृष्टि है, बाह्य दृष्टि आत्मा की घोर अनर्थ करनेवाली है, इसीके वश आबतक अनंत काल क्लेश भोगते भोगते व्यतीत हुआ।

अरे जिस बाह्यके आश्रय तू राग परिणति बना रहा है वे तो बाह्य ही है, तुझसे ऐसे भिन्न हैं जैसे अन्य अपरिचित व अपने न माने हुए पदार्थ हैं। मोहनींदमें सोता क्या स्वप्न देख रहा! जाग!! आत्मा को सावधान कर।

निरंश—सांश

(१५)

वस्तुका जितना स्वरूप है, वह चाहे अवाच्य हो, परन्तु उतने स्वरूपको, बिना अंश किये पूर्णतया जो जानता है वह निश्चयनय है। अतः निरंश अर्थ निश्चय का विषय है।

वस्तुके किन्हीं गुणों द्वारा जानने वाला व्यवहारनय है। यह वस्तुके अंशको मुख्यतया ग्रहण करता है, अतः सांश अर्थ व्यवहारका विषय है।

यद्यपि प्राथमिक जन व्यवहार द्वारा सांश अर्थको समझनेके द्वारा आगे निरंशको समझते हैं, उस निरंशको बतानेका प्रकार भी सांश ही है, अतः सांश व्यवहार प्रयोजनवान् है, तथापि मुमुक्षुओंका परम लक्ष्य निरंशपूर्ण अर्थ है, इसके अनुभवके बिना पर्यायबुद्धि प्राणी विश्राम-शान्ति नहीं पासके हैं।

रागद्वेष सहित ज्ञानकी क्रियामें सांश-खंडबोध ही रहता है और यह खंड खंड ज्ञान, ज्ञान स्वभाव आत्मा की मालिनताका उत्पादक है, ज्ञानके लोभीजन इसही सांश ज्ञानकी लालसा रखते रहते हैं, जो आत्माको हित स्वरूप नहीं।

वास्तवमें ज्ञान, कोई ज्ञान हो, चाहे निरंश या सांश, भावापेक्षया तो सभी ज्ञायक भाव हैं, इसमें हेय या उपादेयकी चर्चा ही क्या है? परन्तु ज्ञानमुखेन गुण-विकारोंका अनुभव होता है। इस सरलताके कारण रागादि विभावोंकी करतूतोंका दुष्फल ज्ञान पर लादा जाता है।

अथवा यहज्ञानकी आभिमुखताका गुण दोष है। यदि ज्ञान ज्ञानाभिमुख रहे तो रागादि नामक प्रकृतियोंका उदयकाल रहो, अथवा चारित्र गुणोंमें अव्यक्त विकार मात्र रहो, तो भी आत्माकी निर्बंध व स्वतन्त्र दशा है।

अध्यात्म दृष्टिमें यह ही बंध है जो अशुद्ध पर उपयोग देना।

शुद्ध पर उपयुक्त आत्माके बंधन व परतंत्रता कहां? और क्षोभ भी कहां? शुद्धसे उपयोग दूर होते ही क्षोभ होता है। एक समय भी चारित्र विपरिणमनके अभावमें निर्बंध दशा होनेपर सदैव निर्बंध रहता है। अतः चारित्र मोहके क्षयके विना सबंध ही है। परन्तु जिसकी दृष्टिमें बंध, बंध फल नहीं वह तो उस दृष्टिमें शान्त ही है। अतः यहही एक अपूर्व लाभकारक व्यापार है, कि शुद्ध (निरंश) का एक चित्त होकर अनुभव करो।

शुद्ध—अशुद्ध

(१६)

शुद्धि ३ प्रकार की है—सत्ताशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, पर्यायशुद्धि।

१—एक वस्तुकी सत्तामें अन्य समस्त परवस्तुकी सत्ता नहीं है, सबसे विभक्त है, यह तो सत्ताशुद्धि है।

२—वस्तुके जो गुण स्वभाव हैं उनहींमें उनका परिणमन होता है, अन्य रूप नहीं होजाते हैं, यह द्रव्य शुद्धि है।

३—जो द्रव्यके स्वभावके अनुकूल ही परिणति हो जाती है वह पर्यायशुद्धि है।

इनमेंसे पूर्वकी दो प्रकारकी शुद्धि अनादि अनंत है, पर उनसे आत्माको शान्ति या अशान्ति नहीं, पर्याय शुद्धिमें आत्मा हितपूर्ण होजाता है।

इन तीनों प्रकारसे, या एक प्रकारसे, शुद्ध अर्थ निश्चयनयका विषय है।

वस्तु, सत्ता व द्रव्यसे अशुद्ध होता नहीं, पर्यायसे अशुद्ध होता है, सो भी उपाधिके सांनिध्यमें ही। उस समय गुण विकार रूप परिणमते हैं, वह अशुद्ध अर्थ व्यवहारका विषय है।

जो अनवच्छिन्न धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्मा के ज्ञानमें रहते हैं अर्थात् शुद्धात्माका ध्यान करते हैं वे अपनेको शुद्ध आत्मा पाते हैं। क्योंकि जैसी भावना होती है वैसा ही अपनेको अनुभव होता है। और यदि अशुद्ध आत्माका अज्ञानसे अनुभव करे तो अपनेको नर नारक रूप पाता है।

"मुझे अमुक करना है" ऐसा भाव अशुद्ध दशा है, उसके अनुभवसे अशुद्धता ही बढ़ती है। बाह्यका उपयोग दूर कर। सर्व अपनी २ सत्तासे ही रचित हैं, अपनी परिणतिसे परिणत होते हैं, बाह्य अणुमात्र द्रव्यसे मेरा अणुमात्र संबंध नहीं, कुछभी काम नहीं आते, और यदि निमित्तत्वको पाते हुए कुछ काम आते हैं तो इतना ही कि क्षोभमें निमित्त होजाते हैं, क्योंकि आत्माका हित तो अनाकुलतामें है सो वह पराश्रय नहीं होती।

अतः सुखकी प्राप्तिमें परकी आशा ही बाधक है। इसलिये अशुद्धदशासे उपयोग बदलो, और निराकुल शुद्ध तत्त्वका निर्विकार स्वके संवेदन द्वारा अनुभव करो यही सुखका उपाय है।

उपादान—निमित्त

(१७)

जिस द्रव्यमें अवस्थारूप कार्य हो, वह तो उपादान है। और उससे अन्य द्रव्य जिनकी उपस्थितिके कारण अवस्था हुई परन्तु भिन्नही रहें वे निमित्त हैं।

अथवा द्रव्य तो त्रैकालिक है, वह यदि किसी अवस्थाका उपादान हो या निमित्त हो तब सब अनियत होजायगा, व सदा सर्वत्र सब अवस्थाओंकी प्राप्तिका प्रसंग होजायगा, अतः पूर्व अवस्था सहित द्रव्य उसीकी उत्तरावस्था रूप कार्यका उपादान रहा है और योग्य विशिष्टावस्था सहित अन्य द्रव्य, जिनकी उपस्थितिके कारण वह कार्य हुआ परन्तु अपने स्वरूपास्तित्व सहित ही रहते हुए उससे भिन्न रहें वे निमित्त हैं।

यहां जो कार्यसे अभिन्न रहता है अर्थात् उपादान, निश्चयनयका विषय है। और जो निमित्त कारण हुए वे व्यवहारनयके विषय हैं।

कार्यका उसी उपादानसे अंतर्व्याप्यव्यापक भावका सम्बंध है। कार्यतो व्याप्य है, और जिसमें कार्य हुआ वह व्यापक है। फिरभी सम्बन्धके समय स्वरूपास्तित्व एक है, और कार्यके स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न आधारभूत वस्तुसे बाह्य, अन्य अनुकूल अवस्थासे विशेषित बाह्य-

द्रव्य, कार्य होने न होने या पूर्व या उत्तरकालमें रहनेके हेतु व्यापक हैं। परन्तु विशेष दशामें उसकी उपस्थिति अपेक्षित है, तथापि कार्यमें अव्याप्त है। इस बाह्यव्याप्य व्यापक सम्बन्धके कारण वे निमित्त व्यवहारनयके विषय हैं।

उपादान दृष्टिमें द्रव्यकी समस्त नियत पर्यायें क्रमसे अपनीही शक्तिसे प्रवाहरूप व्यक्त होती रहीं, व होती हैं, व होती रहेंगी। इस दृष्टिमें निमित्तकी आधीनता छूटती है, परन्तु निमित्तका अभाव वहांभी नहीं है। अतः "निमित्त बिना होता है" यह एकान्त असत्य है। कथंचित्-तो ठीकही है।

अभेद—भेद

(१८)

वस्तुका द्रव्यत्व, गुण, पर्याय वस्तुसे पृथक नहीं है, अतः ये निश्चय नयके विषय हैं। और जो उससे भिन्न हैं वे उसके उद्देश्यके प्रति व्यवहारनयके विषय हैं। फिरभी अपने प्रति निश्चयनयके विषय हैं।

आत्मामें होनेवाले काम क्रोधादि विकाररूप परिणमन परिणामी आत्मासे अभिन्न हैं, अतः निश्चय नयके विषय हैं। तथापि आत्मामें त्रिकाल नहीं पाये जाते अतः आत्मासे भिन्नभी हैं। इस दृष्टिसे वे विकार व्यवहारनयके विषय हैं।

अथवा उस कालमें तो तादात्म्यसे हैं, अतः अशुद्ध निश्चयनयके विषय हैं।

इस विकारकी तरह कोईभी पर्याय हो वह समय मात्र रहकर दूर होजाती है। अतः वहभी भेद प्ररूप्य होजाते हैं. तब केवल द्रव्यत्व ही अभेद प्ररूप्य हैं।

अन्ततो गत्वा सब व्यवहारके विषय बन २ कर केवल द्रव्यत्व निश्चय कोटिमें बचा, सो भी विधिमुखेन प्ररूप्य होनेके कारण भेद डालदेता है, तब वह भी निश्चय कोटिसे निकल गया और निश्चय व्यवहार

के विवरण व परिवर्तनसे जो कुछ अशक्यविवेचन (जिसका विवेचन अशक्य है) उपादान ज्ञात हुआ वह निश्चयका विषय हुआ।

यहां तक अनुभव कर लेने वाला भव्य द्वन्द्वसे बचकर शान्तिपथका पथिक बनता है।

लौकिकजन कहते हैं कि "मन चंगा तो कठौतीमें गंगा" यदि उपयोग शुद्ध दृष्टिके पश्चात् शुद्ध विकल्प सेभी अतीत होकर शुद्ध बन गया तब सब अर्थकी सिद्धि यहीं है।

आशा न रहनेका नाम आशाकी पूर्ति है। प्रयोजन की अवस्था न रहनेका नाम प्रयोजन सिद्धि है। भलेही बाह्य दृष्टिवाले इस बातका अनुभव न करें और बाह्य पदार्थके सम्बन्धको ही सुखका विधाता मानलें, परन्तु तत्त्व तो तत्त्वही रहेगा। आशा व प्रयोजनकी अवस्थाका अभाव शुद्ध अभेद्य उपयोगमें है। अतः यह कहना भी असंगत नहीं कि सर्व आशा और प्रयोजनकी पूर्ति शुद्ध उपयोगमें होजाती है।

अवाच्य--वाच्य

(१९)

अभेदसे अभेदपर प्रवेश पानेवाली दृष्टिमें उत्तीर्ण अवाच्य तत्त्व निश्चयका विषय है, अध्यात्ममात्र है। और वह ही कल्पनाओंसे प्रेरित विवेकी द्वारा वाच्य होनेपर व्यवहारका विषय है। अतएव वह तत्त्व मन वचन काय की चेष्टाओंसे परे है, और संज्ञी अवस्थामें मनके निमित्त से होनेवाले ज्ञानके द्वारा प्रारंभको प्राप्त वह तत्त्व अपनी युवावस्थामें सहज ज्ञानके संरक्षणमें रहनेके कारण अपने निमित्त जनककी अपेक्षासे रहित होजाता है। और उस समयका उस तत्त्वरूप परिणमन मतिश्रुतका पर्याय होता हुआ भी मतिश्रुतरूप नहीं है। अथवा मतिश्रुत और सहज ज्ञायक भाव दोनों की सीमा पर अवस्थित है, इस लिये अपेक्षासे किसी रूप भी कहा जा सकता है।

वैसे तो लौकिक अनुभवभी अवाच्य है। मिश्रीका स्वाद अवाच्य है, ज्वरकी पीड़ा अवाच्य है, इष्ट वियोगज आर्त्त अवाच्य है, इनका अनुभव सर्वहीलौकिकोंको है, अतः इनके विषयमें चर्चा होतेही अपने अनुभवको संभाल लेते हैं, और वाच्य जैसी प्रक्रिया होने लगती है, किन्तु आत्मानुभवके रसिक प्रायः हैंही नहीं, उनमेंतो उस स्वादकी

प्रतीति करानेवाले वचनही क्या हों, हां जो आत्मा-नुभवके रसिक हैं उनके लिये वाच्य जैसी प्रक्रिया होने लगती है, वहां भी उन्हें स्वसंवेदन गम्य है, वचनगम्य नहीं हैं।

तत्त्व अवाच्य है, आत्मा अवाच्य है, उन्नति अवाच्य है, सुख अवाच्य है, परन्तु मोही आत्मा जगतमें वाच्य बननेकी इच्छासे तन मनका दुरुपयोग कर संक्लेशमें ही जीवन बिता देते हैं।

हे सुखैषी ! तू अवाच्य है, तब वाच्य होनेकी अर्थात् यश, कीर्त्ति, नामवरी आदिकी इच्छाको छोड़, यह सब महती आपत्ति है। तुझे अपने स्वरूपके विरुद्ध वर्तमान करतूत जानकर इस अपराधके लिये महान प्रायश्चित स्वीकार करना चाहिये, अपनी शक्ति संभाल, मायामय खेलोंसे क्या सिद्धि ? होगी, उस अवाच्य परमात्मतत्त्वका ध्यान कर, उसीको विचार, उसहीके लिये बोल और अपना सर्वस्व उसीके लियेही समर्पण कर।

मति—श्रुत

(२०)

इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान मति ज्ञान है। ज्ञानसे जाने हुए पदार्थके सम्बन्धमें जो ऊहापोहात्मक विचारात्मक ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है।

मतिज्ञानकी उत्पत्तिमेंही इन्द्रिय और मनके निमित्त की अपेक्षा है, मतिज्ञान वृत्तिमें इन्द्रिय मन सहयोगी नहीं हैं अतः स्वयं निरपेक्ष हैं। तथा विचारात्मक नहीं, अतः निर्विकल्पक हैं। आत्मानुभव भी निर्विकल्पक है, अतः आगमदृष्टिसे आत्मानुभव मतिज्ञानका विषय है। अभेदग्राही होनेसे मति निश्चय है।

भेदग्राही विकल्पात्मक होनेसे श्रुत व्यवहार है।

यद्यपि निश्चयनय विकल्प और व्यवहारनय विकल्प दोनों श्रुतज्ञानके अंश हैं, तथापि निश्चयनय विकल्पका विषयभूत अर्थ विकल्परूप नहीं है।

श्रुत ज्ञानके विकल्पों द्वारा विकल्प नष्ट करनेमें आत्माकी चतुराई है। विकल्प विकल्प खोनेके लिये यदि है तब तो उसका लक्ष्य शुद्ध है। अन्यथा विद्याएँ विवाद को उत्पन्न करनेवाली होजाती हैं।

नट रस्से पर चलना सीखता है और सीखनेमें वह

अपने हाथमें एक बांस लेकर चलता है, जो दोनों ओर लटकाये रहता है, उसका अवलंबन उसके छोड़नेके ध्येय से है। और अभ्यस्त होजाने पर वह नट बांसको छोड़ ही देता है।

स्वानुभव तत्त्व मानसिक शुद्ध ज्ञानका फल है, स्वानुभवकी उत्पत्तिमें मनका अवलंबन होता है, और स्वानुभवके समय भेदग्राहिता न रहनेके कारण निरालम्ब परिणति कहलाती है, तथापि पर्यायदृष्टिमें आत्मा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इन पांच पर्यायोंमेंसे किसी एक पर्यायमें रहता ही है। अतः वह अवस्था मतिज्ञान सम्बन्धी मानी जाती है।

यह निर्विकल्पानुभवही बिर्विकल्पदशाका कारण है, क्योंकि उपादानके सदृशही कार्य देखा जाता है।

शुद्ध आत्म तत्त्वकाही ध्यान रहे इसीमें आत्माका कल्याण है बीचमें जो विकल्प होते हैं वे आत्मस्वरूप नहीं हैं।

निगम और आगम

(२१)

निगम-स्वयं (निसर्गसे) निकले हुए ज्ञानको कहते हैं। और आगम-आ-समन्ताद्गमन = चारों ओरसे याने परके आश्रमसे बोध होनेको कहते हैं।

निगम स्वानुभव रूप है, और आगम युक्ति-उपदेश आदेश मूलक है। निगममें स्वाश्रित दृष्टि है, और आगम में पराश्रित दृष्टि है।

सूर्य बादलोंसे ढका है, बादलके हटने पर सूर्यका प्रकाश सूर्यके स्वभावसे व्यक्त होता है, स्वभाव और स्वभावव्यक्तिकी दृष्टि परके आश्रयकी दृष्टि नहीं, क्यों कि परको दृष्टित्व सौंप देने पर स्वभावकी महिमामें हानि होगी, किन्तु स्वभाव महिमा पूर्ण होती है।

यदि किसीका स्वभाव किसीके सद्भाव या अभाव से प्रकट होने लगे तब तो विश्वसांकर्य होजायगा, तथा इसी अनवस्थासे विश्वका अभाव होजायगा। अतः सिद्ध है कि ज्ञान और सुख जिसको कि सभी प्राणी चाहते हैं, वह खुदहीमें है, बाह्यमें नहीं है, खुदहीसे प्रकट होता है, बाह्यसे प्रकट नहीं होता, केवल बाह्य दृष्टिको मिटानेकी आवश्यकता है, आत्म-दृष्टि स्वयं आजायगी। इस मिटाने

या बनानेकी प्रक्रियाको भी यह प्राणी स्वयं करेगा।

यहां निगम ज्ञान निश्चय दृष्टिका विषय है, क्योंकि निगमज्ञान पर निमित्तकी अपेक्षासे रहित स्वाश्रितभाव है, निर्मल स्वतन्त्र रूपसे अपने अस्तित्वकर सहित है। आगमज्ञानका भी फल यही है, सुख शान्तिका सर्वस्व यही है, यह स्वतन्त्र भाव पर लक्ष्यके छूटनेपर स्वयं होता है, परलक्ष्यका छूटना स्वलक्ष्य होने पर स्वयं होता है।

अतः निर्विकार ज्ञायक स्वरूप स्वके लक्ष्यमें ही काल यापन हो जिसके प्रसादसे स्वलक्ष्य रूप सूक्ष्म पर परिणति भी नष्ट होकर लक्ष्य अलक्ष्यकी वृत्तिसे रहित, स्वलक्ष्य वालोंका लक्ष्यभूत यह आत्मा सहजानंदघन हो, दुःखसे निवृत्त होजाय।

एक—अनेक

(२२)

यह आत्मा निश्चयदृष्टिसे अनादि अनंत ज्ञायकाकार है, अतः उसमें विकल्प न पडनेसे एक है, परन्तु कालादिककी अपेक्षा आत्माके अंश होजाते हैं, अतः व्यवहार दृष्टिसे आत्मामें अनेकता है। ऐक्यदृष्टिमें व्यग्रता नहीं मोक्ष मार्गकी वृद्धि है। परन्तु पर्याय बिना द्रव्य रहता नहीं, अतः पर्याय भेद जो व्यवहारके विषय हैं, उनको मिथ्याही माननेवाला साहजिक ऐक्यदृष्टि नहीं कर पाता, सो व्यवहारका विरोध न करकेही ऐक्यदृष्टिमें मोक्षमार्ग पाया जाता है।

अद्यावधि इस जीवने अनेकताका परिचय किया, विषय कषायोंकी व्यग्रता पाई, तृष्णासे विह्वल रहा, और आत्माकी वह एकता जो न मानने पर भी है, उसपर दृष्टि न रखनेसे दुःखकी संततिही बढाता रहा।

वस्तुभी शुद्ध तभी मानी जाती है, जब वह अपने एकत्व अवस्थाकोही प्राप्त रहे, अन्यथा वह कलुषित (विभावापन्न) वस्तु कहलाती है।

आत्माका निरपेक्ष स्वभाव त्रिकालमें भी एक है। जिसके अनुभव कालमें अनुभवित्ताके विकल्पमें वह स्वयं भी

नहीं, न अन्य भी कोई, अर्थात् वह भी लौकिक निजको विलीन कर देता है—मग्न कर देता है—त्रिकाल स्वभावी अपनसे अभिन्न ब्रह्मत्वमें।

द्रव्य अनेक होने पर भी अनेक पर लक्ष्य रखने वाला अनेक बनता रहता है, एक पर लक्ष्य रखनेवाला अनेक बननेकी विषम विपत्तिसे दूर हो जाता है, अतः ज्ञान प्रतिभास रूपही मेरे उपयोगका परिणमन हो।

इस जीवने अनेक स्थानों पर भ्रमणकर-जन्म लेकर विविध पदार्थोंको जाना, विविधदशाओंको आत्मीय माना; परन्तु इस एक निज ज्ञायकभाव स्वरूपको न पहिचाना, जिसके जाने विना अनेक धर्म बुद्धिसे भी कायक्लेश आदि करने पर भी सत्यशान्तिका मार्ग न चल सका। अतः इस अनादि अनंत अचल स्वसंवेद्य चैतन्यस्वरूप निज एकत्वरत भगवानको पहिचानो, जिस से रागद्वेषमोहरहित स्वयंका अनुभवहो, और अनंत शान्ति प्राप्त हो।

गुण—पर्याय

(२३)

जो व्यक्त है, या परिणमन है, वह तो पर्याय है। और उसकी आधारभूत शक्ति गुण है।

गुण नित्य और एक रूप है, परन्तु पर्याय अनित्य और अनेक रूप है।

अनित्यों और अनेकों पर की हुई दृष्टि अस्थिरता और आकुलताकी जननी है। और नित्य एक स्वभाव पर कीहुई दृष्टि स्थिरता और अनाकुलताकी जननी है।

गुण सामान्यरूप है, पर्याय विशेष रूप है। विशेष रूपपर पहुंचाया हुआ उपयोग स्थिर नहीं होता, क्योंकि वह विशेष क्षणिक है, परन्तु गुण जो कि पर्यायका आधार है, वह सामान्यरूप है, ध्रुव है। वह जब उपयोगका आश्रय हो तब उपयोगका उस आश्रयसे निराश्रितता होनेके लिये आश्रयाभाव प्रतिबंधक नहीं हो सकता, क्योंकि गुण ध्रुव है, एक स्वभावी है, अपनेमें परिपूर्ण है, अनैमित्तिक हैं, स्वयंसिद्ध है।

जैसे पुद्गलमें यथा -आममें हरा, पीला आदि पर्यायें हैं वे पर्यायें रूप सामान्यकी है। वह रूप सामान्य क्या है? जो हरा पीला आदि पर्यायोंसे भी रहित नहीं, और

किसीभी पर्याय रूप नहीं, वह तत्त्व सदा है।

जीवमें मति, श्रुत, अवधि आदि पर्यायें हैं, वे पर्यायें ज्ञान गुणकी हैं, वह ज्ञान जो पर्याय (अवस्थाविशेष) से रहित न होकरभी किसी एक पर्यायरूप नहीं, वह ज्ञान सामान्य क्या है? .... । किसी विशेषज्ञान रूप बुद्धिको न करके ज्ञाता द्रष्टारूप रह कर, अनुभव किया जावे तब स्थिरताकी अशक्तिसे विकल्प होनेपर ज्ञात होगा कि वह तत्त्व, उसपर उपयोग हो या न हो, सदा रहता है, वह ज्ञायकभाव आकुलता, राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंसे रहित है और स्वाश्रित है, अतएव निश्चयनयका विषय है।

उस ध्रुव एक स्वभावी गुण, गुणीमें भी उपयोग के मूलभूत ज्ञान-गुण पर [उसही अवस्था पर नहीं] जब लक्ष्य रहता है तो उसके बलसे अवस्थाभी गुण सामान्य के अनुरूप होजावे वो वही शान्ति सुखकी चरम सीमा है, अतः ज्ञातृत्व गुणके लक्ष्य द्वारा अपनेको अविकार रहने रूप पुरुषार्थ होना मार तत्त्व है।

गुणी—गुण

(२४)

जो गुणोंका समूह स्वरूप आधार है वह गुणी है, और उसकी भिन्न २ शक्तियां गुण हैं।

गुणों पर दृष्टि होने पर उपयोग अपनेमें रहता हुआ भी विभक्त रहता है, भेद ग्राहक होता है, अतः गुण दृष्टि व्यवहारनय है।

गुणीकी दृष्टिमें उपयोग एकत्व ग्राहक है, अखंड द्योतक होरहा है, अतः गुणीकी दृष्टि निश्चयनय है।

गुणीके अवलोकनमें आकुलताका आश्रय जो समस्त पर द्रव्य, उसका अनाश्रयत्व है, अतः यह अवस्था सुख स्वरूप है, तथा परम सुखका कारण है। इस अवस्थाके अश्रद्धान, अननुभवनसेही जीव अनादिसे भटक रहे हैं। सब तरहका अर्थ-विकल्प जीवके हुआ, परन्तु यह उपयोग न पाया, यह महान दुर्लभ है।

बहुत प्रकाशका प्रयास सुखके अर्थ जीवने किया किन्तु यह प्रयास न किया जोकि सरल, सहज, स्वाधीन है।

लोकमें विशेषावस्थापन्न गुणही गुण कहे जाते हैं। तथा विभावावस्थापन्न भी गुण, गुण कह दिये जाते हैं।

तब उन गुणोंसे रहित तत्त्व निर्गुण ब्रह्मसे संज्ञित होता है, फलतः निर्गुण ब्रह्मका विचार गुणीकीही कल्पना है।

ब्रह्म अनेक गुणात्मक है, उन अनेक गुणोंमें ज्ञान गुण प्रधान है, जिसके प्रसादसे अन्य गुणोंका अस्तित्व निश्चित है। तथा स्वयंका भी। उस प्रधान गुण द्वारा जब वहीं स्वयं ज्ञेय रहता है तब गुणीका अनुभव स्वयं है और जब गुणके विकल्पोंको न करके गुणी ज्ञेय होता है, तब भी वह प्रधान गुणका शुद्ध विकास है। अतः गुणी और गुणमें अभेद है। तथापि भिन्न दृष्टि कर जब गुणी ज्ञात करे तब वह निश्चयका विषय है। और गुणोंको समझे तब वह व्यवहारका विषय है।

इस जीवने अनादिसे अबतक अनेक कल्पनाओंको ज्ञानका आखेट (शिकार) बनाया, परन्तु शुद्ध गुणीका अनुभव नहीं किया, अतएव अनेक विषम क्लेशोंका आधार बना।

अब गुणी कहो, निर्गुण ब्रह्म कहो, शुद्ध ज्ञान कहो, इसीका अनुभव करो, यही कल्याण है, सुख है, शान्ति है।

नेति (निशेष)—विधि

(२५)

जैसे शुद्ध तत्त्व अशुद्धताके पृथक् होनेसे प्रकट होता है, इसीतरह शुद्ध तत्त्वका शुद्ध बोध, यावन्मात्र मात्र वर्णित है, उतने मात्रका निषेध होनेसे प्रकट होता है। विधिके बाद निषेध होना इसका उपाय है। अतः नेति निश्चयनयका विषय है और 'विधि' व्यवहारनयका विषय है।

व्यवहार प्रतिषेध्य है, निश्चयनय प्रतिषेधक है—अर्थात् व्यवहारका निषेध निश्चयनयका वाच्य है। क्योंकि व्यवहारनय जोकुछ कहता है उतना मात्र पदार्थ का स्वरूप नहीं है।

पदार्थ तो अखण्ड है–सामान्य विशेषात्मक है, अनन्तधर्मात्मक है, परन्तु वर्णनमें भेद अंश व कुछ गुण ही आवेंगे, इसलिये विधि व्यवहारनयका विषय है और "वह नहीं" ऐसा निषेध, और साथही अखण्ड पूर्ण वस्तुका लक्ष्य, निश्चयनयका विषय है।

व्यवहारनय पदार्थकी विशेष शक्तिको देखकर उसकी विधि करता है और निश्चयनय अखण्ड पदार्थको देखकर विशेष शक्तिकी विधिका निषेध करता है–कि

निश्चयसे पदार्थ इतना नहीं है।

यहां यह पूँछा जा सकता है कि जीव अखण्ड है। अनन्तगुणात्मक है। इस प्रकारसे निश्चयनयका विषय विधि बन सकता है। परन्तु यह यहां ठीक नहीं, क्योंकि लक्ष्य लक्षण, विशेष्य विशेषणके भेदसे यह भी व्यवहारनय है। इस ही कारण निश्चयनय वर्णनात्मक नहीं हो सकता, और न निश्चयनयका उदाहरण ही कुछ हो सकता है।

निश्चयनय निर्विकल्प है, और व्यवहारनय सविकल्प है। यद्यपि नय सभी विकल्पात्मक होते हैं, यहां भी व्यवहारनयने विधिका विकल्प लिया तो निश्चयनयने निषेधका विकल्प लिया, फिरभी वह नेति निर्विकल्प-सा है, इसीलिये तो निश्चयनय एक है। उसका विषय एक है, और व्यवहारनय विकल्पात्मक होनेसे उसके विषय अनेक हैं।

जैसे ज्ञान गुण है, सुख है, अस्तित्व है आदि विधि अनेक हैं। उस प्रकार उन विधियोंका निषेध अनेक नहीं, वह तो एक रूप ही है। सोनामें अन्य धातुओं का सम्बन्ध तो अनेक है—तांबासोना, चांदीसोना, जस्तासोना आदि, परन्तु जो अन्य पदार्थके सम्बन्धसे

रहित जो सोना है वह जैसा चांदी रहित है, वैसा जस्ता रहित है, वैसा तांबा रहित है। सबका निषेध (न) है, उसमें क्या विशेषता है?

जो मनुष्य व्यवहारनयका अवलम्बन लेकर पदार्थों की विशेष शक्तियोंका बोध कर पृथक शक्तियोंका निषेध करते हुए अखण्ड वस्तुको लक्ष्यमें लेकर ध्याता ध्येयके विकल्पको दूर कर अभिन्न स्वानुभवी होता है, वह शान्त, सुखी, शुद्ध, निर्विकार होजाता है।

निरुपाधि=सोपाधि

(२६)

किसी अन्य उपाधि व निमित्तके बिना जो सहज भाव होता है वह निरुपाधिभाव है। तथा जो किसी उपाधिके निमित्तसे असहजभाव होता है वह सोपाधिक-भाव है।

राग, द्वेष, मिथ्यात्व आदि भाव, एवं इन्द्रियज ज्ञान स्मरण, तर्क, अनुमान आदि बोध सब सोपाधि भाव है। ये पराश्रित हैं, अंशरूप हैं, अनेक रूप हैं, अतः व्यवहार दृष्टिसे ये अस्तित्ववान् हैं। ये उपाधिज भाव हैं, अतः निराकुलता स्वरूप नहीं हैं।

उपाधि-उप—आधि, जो मानसिक व्यथाके पास हों वह उपाधि है। उपलक्षणसे सभी भाव जो असहज हैं वे उपाधिज हैं—उपाधि रूप है।

वस्तु उपाधि बिना अकेलाही सुंदर है। परन्तु मोही प्राणी उपाधिसे दुख पाते हुएभी उपाधिको चाहते हैं। ज्ञानी पुरुष, जैसे लौकिक उपाधिको हितरूप न समझ कर उपाधिको नहीं चाहते, इसी तरह अंतरंग उपाधिका भी कभी आदर नहीं करते।

वास्तवमें बाह्य उपाधिको उपाधि कहना उपचार है, अंतरंग भावही उपाधि है। कोई पुरुष बाह्यमें परिग्रह को छोड़कर मान्यता करे कि मैंने उपाधि छोड़दी, तो अभी उसने निरुपाधि भावही नहीं पहिचाना। निरुपाधि प्रतिभासमात्रके लक्ष्यसे उपयोगमें बाह्य वस्तु तो छूटी ही है परन्तु बाह्य वस्तुके ग्रहण रूप विकल्पमय जो उपाधि है वह भी स्वयं छूट जाती है ।

अरे ! देखो बड़े कष्टकी बात है, जगत सदा उपाधि भावमें मग्न रहता है। विचार, वाणी, चेष्टासे भिन्न शुद्ध ज्ञान मात्र अपनेको अनुभव करनेका विचार तक भी नहीं लाता, और कष्टप्रद विचारों, विषयेच्छाओंमें मग्न रहकर आकुलित होता हुआ भी उपाधिभावका आदर ही किये जा रहा है।

ये रागद्वेष आदि सोपाधिभाव अशुचि हैं, दुःख स्वरूप है, दुःखके कारण हैं, आत्माके स्वभावसे विरुद्ध हैं। निरुपाधि भाव स्वयं शुचि हैं, स्वच्छ हैं। इनमें दुखकी छाया भी नहीं। अनन्त शान्तिका तात्त्विक कारण हैं, आत्माके स्वभाव रूप हैं।

इन दोनों भावोंके भेद विज्ञान बिना अनन्त चेष्टाओं से भी आत्मा लेशमात्र भी सत्य शान्ति नहीं पा सकता।

सोपाधि भाव हैं, इनको मिथ्या नहीं कहा जा रहा, परन्तु आत्माके स्वभावसे उल्टे हैं। अतः मिथ्या ही तो हैं, इनका आदर छोड़ो वे तो अपने आप मिट जावेंगे। लोकमें भी जिस पुरुषका जहां आदर न हो वह वहां कब तक टिकता है, अतः हे सुखैषी! निरुपाधि भावका ही आदर हो, और वही लक्ष्य हो।

तत्—अतत्

(२७)

यह निजतत्त्व (ज्ञान) अंतरंगमें प्रकाशमान ज्ञान-स्वरूप करि तत्स्वरूप है। और ज्ञानकी स्वच्छताके कारण विषयभावको प्राप्त सर्व बाह्य जगत्की अपेक्षा बाह्य जगत् के द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप न होनेसे अतत्स्वरूप है। अथवा उपयोगके २ परिणमन हैं—१. ज्ञानाकार, २. ज्ञेयाकार। उनमें जो ज्ञानकी निजी त्रैकालिक एकाकार स्वच्छता है वह तो ज्ञानाकार है, तथा जो ज्ञानमें आभास है, जिसका विषय ज्ञानातिरिक्त भाव—अर्थ है वह आभास ज्ञेयाकार है। अर्थात् अर्थोंका ग्रहण ज्ञेयाकार है। सो वह निज तत्त्व ज्ञानाकारकी अपेक्षा तत्स्वरूप है, और ज्ञेयाकारकी अपेक्षा तत्पर्यायमात्र न होनेसे त्रैकालिक स्वरूपकी दृष्टिमें अतत् स्वरूप है।

वस्तु निश्चयव्यवहारद्वय विषयात्मक है—तत् अतत्रूप है। यहाँ आत्मतत्त्वको ज्ञानमुखेन तत्स्वरूप जो अनुजीवी, सद्भावात्मक, त्रैकालिक, तन्मय गुण उसके निर्देशसे निर्दिष्ट किया है वह तो निश्चयनयका विषय है। और बाह्य जगत् व ज्ञानातिरिक्तभावोंका ज्ञानमें नास्तित्व है। उन स्वरूपसे ज्ञान नहीं है। इसतरह अनंत परभावोंका आश्रय

करके ज्ञानमें प्रतिजीवीगुण-अभावात्मक धर्मका वर्णन है वह व्यवहारनयका विषय है।

तत्त्व तदतदात्मक है। यदि तत्रूप ही हो और अतत् रूप न हो तो, सर्वकी अपेक्षा तत् होगा तब स्वस्वरूपका ही नाश होजायगा। और इस तरह कोई भी स्वरूप न रहेगा। ब्रह्माद्वैतैकान्त व संवित्त्यद्वैतैकान्तमें तत् अंशकी ही मान्यता है, अतत् अंश न रहनेसे ज्ञानतत्त्व सद्वैशा· दानिक होजायगा, तब चैतन्य स्वरूप कुछ भी व्यवस्थित न रहा। तथा यदि तत्त्व अतत् अंशमयही हो किसीभी अर्थके गुणादिके स्वरूपभेदसे अत्यन्त भेद करता ही रहें और गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष सबको भिन्न प्रदेशी मानलें और अपने पिण्डरूपसे होनेवाले तत् अंशको न स्वीकार करें तो निराधार, अपिण्ड, पृथक् पृथक् निरपेक्ष गुण गुणी ज्ञानाकार ज्ञेयाकार आदि सभी कुछ भी अस्तित्व न रख सकनेके कारण नष्ट होजांयगे। तत्त्व न केवल तदात्मक है और न केवल अतदात्मक है। अतः उस अनेकान्ततत्त्वकी श्रद्धा करके सहज स्वभावसेही पर रूप के निषेधक निजभावस्पर्शी निजतत्त्वमें स्थिर होकर ज्ञानी जन अनंतदुःखके अभावमय एवं सहजस्वरूपके सद्भावमय परमशान्तिको प्राप्त होते हैं।

स्थूल तात्पर्य यह है–कि कोई भी वस्तु अपनेही द्रव्य क्षेत्रकालभावचतुष्टयसे तत्स्वरूप है और उससे भिन्न जो अनेक पदार्थ हैं उन सबके द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयसे अतत्स्वरूप है। मनुष्य मनुष्यही है, सिंह सर्प नहीं, इस प्राकृतिक व्यवस्थामें तत् अतत्का रहस्य अन्तर्निहित है। तत् एक निजरूप पर दृष्टि रखाता है अतः तत् निश्चयनय का विषय है। और अतत् अनेक पर पदार्थोंकी अपेक्षायें-आलंवन रखाकर नास्तित्त्वधर्मका बोध कराता है। अतः अतत् व्यवहारनयका विषय है। यहां यह तत्त्व ग्रहण करना चाहिये कि मैं सर्वसे अतत्, स्वसे तत्, एक ज्ञानाकार अनाद्यनंत स्वसंवेद्य तत्त्व हूं। इसकी शोभा, महिमा इसी स्वरूपके उपयोगसे है, अतः निजोपयोगी रहो।

समाप्तोऽयं खण्डः।

|| नमः सिद्धाय ||

अध्यात्मयोगि पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर वर्णि "सहजानन्द" प्रणीता

"सहजानन्दगीता"

मूल श्लोकपाठः।

रागाभावः स्वयं स्वाभावाप्तस्वो हि स्वमवत् ।
स्वे स्वं परं नमस्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
यादृक् सिद्धात्मनो रूपं तादृग्रूपं निजात्मनः ।
भ्रान्त्या क्लिष्टस्तु लोकेऽद्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥
विश्वतो भिन्न एकोऽपि कर्त्ता योगोपयोगयोः ।
रागद्वेषविधाताऽऽसम्... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
न करोमि न चाकार्षम्, न करिष्यामि किञ्चन ।
विकल्पेनैव त्रस्तोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥
स्वरागवेदनाविद्धश्चेष्टे स्वस्यैव शान्तये ।
नोपकुर्वे च नो शान्तिः... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
याति नेतो न चायाति जातुचित्किञ्चिदन्यतः ।

खिन्नो हीनाधिकं मन्ये १ ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
स्वातन्त्र्यं वस्तुनो रूपं तत्र कः किं करिष्यति ?
हानिर्मे हि विकल्पेषु ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
ज्ञाता दृष्टाहमेकोऽस्मि निर्विकारो निरञ्जनः ।
नित्यः सत्यः समाधिस्थः... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥
अमरोऽहमजन्माहं निःशरीरो निरामयः ।
निर्ममो नैर्जगत्योऽहं ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
नोपद्रवो न मे द्वन्द्वो निर्विकल्पोऽपरिग्रहः ।
दृश्यः कैवल्यदृष्ट्याऽहं... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥
निर्वंशश्चेतनावंशो निर्गृहश्चेतनागृहः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
निर्मित्रश्चेतनामित्रो निर्गुरुश्चेतनागुरुः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
निर्वित्तश्चेतनावित्तो निष्कलश्चेतनाकलः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
निष्कीर्तिश्चेतनाकीर्तिर्निष्कृतिश्चेतनाकृतिः ।
चेतनान्यन्न मे किञ्चित्... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
जीविताशा प्रतिष्ठाशा विषयाशा जनैषणा ।
आभिर्मुग्धो विनष्टोऽहं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥

१—किसी किसी श्लोकमें तीसरे चरणके बाद अतः, च, साम्प्रतं आदि शब्दोंका यथायोग्य अध्याहार करना चाहिये, अथवा तीसरे चरणके बाद अध्यात्मशैलीसे विश्राम लेकर चौथा चरण पढ़ना चाहिये ।

भवेऽथासिन् मुहुर्नाना दुःखं प्राप्तं कत्र रक्षकः ?
को भूतः कस्य भूतोऽहं?... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
दुस्त्याज्या चेद्रतिस्त्यक्ता मृतत्यक्तकुटुम्बिनाम् ।
स्वातन्त्र्यं स्यानि किं स्वस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥१७॥
ज्ञात्वा रागफलं दुःखं जीवानां भ्रमतामिह ।
रागं मुञ्चानि नो मुक्त्वा...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥१८॥
द्रष्टारं स्वयमात्मानं पश्य पश्य न चेतरम् ।
तिष्ठानि निर्विशेषं चेत्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥
अहंकारादिना द्रष्टः कर्त्ता भोक्ता भवेन्न मे ।
ममत्वाऽहंत्वभावोऽपि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥
वाञ्छन् गृह्णन् त्यजन् हर्षन् शोचन् कुप्यन्न वर्तते ।
यत्रास्ते तत्स्वसाम्राज्यं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥
यदाऽज्ञता तदासीन्मे प्रीतिर्भोगे स्वविभ्रमात् ।
हीनवज्ज्ञोऽपि भावानि-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥
ज्ञातृत्वं मयि सर्वेषु स्वायत्तं साम्यसंयुतम् ।
कस्य कः ? ज्ञातृणां दृष्ट्वा. स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥
यत्रैव भासते विश्वं सोऽहं चिद्रूपं न साकृतिः ।
ज्ञाता दृष्टा स्वतन्त्रोऽहं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥
स्वभिन्नं न हितं किञ्चिदद्वैतोऽहं हिते क्षमः ।
द्वैताश्रिता मुधा बुद्धिः ...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

इति प्रथमाह्निकम्

सहजानन्दभावः क्व ? मे रागादिवैरिणः ?
सहजानन्दसम्पन्नः ......स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

प्रयत्नो वाञ्छया तस्माद्वातो यन्त्रं प्रवर्तते ।
स्वे तान्यारोप्य किं दुःखी ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

पङ्गोर्दृष्टिर्यथान्धे न तथा स्वस्यैव नो तनोः ।
दर्शनं मात्रमस्मयस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

यस्मिन् ज्ञानमये यत्ते सत्तपाषाणवत्क्रमात् ।
विकल्पो नापि तत्रान्ते...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

आत्मजागरणं यत्र चास्मिन्वे लोकजागृतिः ।
अहं सज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

अहं स्वं जन्ममृत्यादि सुखं दुःखं नयाम्यहम् ।
मुक्तौ नेता गुरुस्तस्मात्....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

देहे बुद्ध्या वपुः स्वस्य बुद्ध्या स्वः प्राप्स्यते मया ।
ज्ञानमात्रमतिर्मेऽस्तु''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

महान् स्वभ्रान्तिजः क्लेशो भ्रान्तिनाशेन नंक्ष्यति ।
याथात्म्यं श्रद्धे तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

देहे स्वबोधता दुःखं सुखं स्वे स्वस्य चेतनम् ।
सुखं स्वायत्तमेवातः'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

तिर्यङ्नारकदेवानां देहे तिष्ठन् पृथक् तथा ।
नृदेहेऽपि नरो नाहं'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

अन्योऽन्यत्वेन दुःखं स्वः स्वत्वेन सुखपूरितः।
यतै स्वदृष्टितः स्वार्थे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

आत्मलाभस्पृहैका मे तदन्यत्रास्तु मा गतिः।
नश्यत्वन्तर्जगज्वादः ··स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

यत्र चित्तस्य न क्षोभः स्वैकान्ते वसाम्यहम्।
जनव्यूहहितं किं मे···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

हितैषी हितयन्ताऽस्मि हितज्ञोऽस्मादहं गुरुः।
अस्यैव साक्षितायां शं···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

ज्ञानं स्वमेव जानाति तदा स्वस्वामिता कुतः ?
अहमद्वैतबुद्धिः सन्···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥

ज्ञप्तिमात्रदशायां न दुःखं स्यात्कर्मनिर्जरा।
सैषोऽहं ज्ञप्तिमात्रोऽतः··· स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥

यदुपासे तदाप्तिः स्यादतः शुद्धात्मतां भजे।
शुद्धाप्तिः शान्तिसम्प्राप्तिः··स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥

संयम्याक्षाणि मुक्त्वा च कल्पनां मोहसंभवाम्।
अन्तरात्मस्थितः क्षान्तः ·स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३

भावनाप्रभवः क्लेशो भावनातः शिवं सुखम्।
भावयेऽतः शिवं स्व शं ···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥

सारे देहिषु सर्वेषु व्यक्ताव्यक्ते बुधाशये।
ज्ञानमात्रे थिर तिष्ठन्···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रैकत्वं मुक्तिरदः सुखम् ।
तच्च ज्ञानमयं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥
तत्त्वतो ज्ञानमात्रोऽहं क्व विकल्पावकाशता ?
ततोऽहं निर्विकल्पः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥
स्वैकत्वस्य रुचिस्तस्माद् मग्नता निश्चयेन मे ।
अस्वभावे कथं वृत्तः··· स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥
अद्वैतानुभवः सिद्धिर्द्वैतबुद्धिरसिद्धता ।
सिद्धेरन्यश्च पन्था न····स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४९॥
स्वैकत्वं मंगलं लोके उत्तमं शरणं महत् ।
रक्षादुर्गं तदेवास्ति···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥

इति द्वितीयाह्निकम् ।

स्वैकत्वमौषधं सर्वक्लेशनाशनदक्षकम् ।
चिन्तामणिस्तदेवास्मिन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥
ज्ञायकत्वे विकारः क्व रागादेः सन्निधावपि ।
सोऽहं ज्ञायकमात्रोऽस्मि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५२॥
दुःखी किं ? विवशः किं ? मेंऽत्रैव न्यायोविधिर्जगत् ।
सुखागारोऽप्ययं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥
ज्ञानपिण्डोऽन्यभिन्नोऽहं निर्विकारी स्वभावतः ।
स्वतन्त्रः सहजानन्दः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५४॥

निज चेष्टाफलं ह्यन्ये दृष्टिः संसार उच्यते ।
विज्ञाय तत्त्वतस्तत्त्वं…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५५॥

अनन्तज्ञानसौख्यादिगुणपिण्डोऽपि तृष्णया ।
भ्रमाणि दीनवत्कस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५६॥

ज्योतिर्मयो महानात्मा वञ्चितोऽक्षविषैरहम् ।
सम्बन्धमात्ररम्यैस्तु…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५७॥

पूर्णदृग्ज्ञानसत्सौख्यी सिद्धात्मा देशतोऽप्यहम् ।
पूर्णश्च भवितुं शक्यः…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५८॥

निर्धूयाज्ञानजान्धं स्वं दृष्ट्वा ध्यानाग्निना विधिम् ।
दहानि निष्कलङ्कः सन्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५९॥

रागादि पीडयेत्तावन्नाविष्टो ज्ञानसागरे ।
अतो ज्ञानेऽवगाह्याहं…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६०॥

स्वभावः सिद्धतैवे तु पर्यायाः कर्मविक्रमाः ।
ततः स्वविक्रम कुर्यां…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६१॥

समाप्तोऽयम् प्रथमोऽध्याय ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

यः संयोगजया दृष्ट्या भाति संयोगजः किल।
तौ नाहं मे न तौ हित्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
नाहमन्यत्र नान्यस्य न नष्टो नो बहिर्गतः।
किन्तु ज्ञायकभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥
विषवद्विषयांस्त्यक्त्वा पृथक्कृत्य वपुर्धिया।
स्वात्मनमेव पश्यामि'' स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
न मे वर्णो न मे जातिर्न मे देशो न विग्रहः।
नैषामहं त्वहं त्वेकः'' स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥
कल्पना यत्र भासन्ते सोऽहं नास्मि स्वकल्पनाः।
श्रद्धामृतं पिबामीदं'' स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
भिन्नदर्शी भवेद्भिन्नः संकरैपी, च संकरः।
तत्त्वतः सर्वतः प्रत्यक्''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
न मे लोको न चाज्ञातोऽनष्टो नष्टे विकल्पिते।
तदित्थं ज्ञानमात्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
देहे स्थित्वापि न स्पृष्टो नानाकारो निराकृतिः
जानन् सर्वं न सर्वोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥
विभक्तैकत्वबोधस्य न स्पर्शः पुण्यपापयोः।
सैवत्रस्तुस्थितिर्मेऽस्तु'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥९॥
नानामतानि तत्त्वेषु विवादे न प्रयोजनम्।
मुक्त्वाऽन्यत् स्वंतुपश्येयं''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१०॥

हर्षादिवासनाजन्यमौपाधिकविनश्वरम् ।
तद्भिन्नं स्वं प्रपश्येयं..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
वासनान्ते न संसारः संसारत्याग एष हि ।
स्वदृष्ट्या वासनान्तोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
कामे बोधरिपावर्थेऽनर्थे तन्मूलधर्मके ।
त्यक्त्वादरं स्वमर्चेयं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
सुखारिर्दुर्गतिर्दैन्यं पापं तद्धेतुकं ततः ।
दूरं वसानि पापेभ्य..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥

इति तृतीयाह्निकम् ।

कार्यहेतुर्न चान्यन्मे भाति विश्वं स्वसत्तया ।
ज्ञानं सुखं परस्मान्न''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।१५॥
जीवो दृश्यो न शो दृश्योऽजीवो वा कोऽपि मे न हि ।
कस्मै सीदानि नश्यानि''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
परः कोऽपि हितो मे नो शो हितोऽहं न मूर्तिकः ।
चिन्तने कस्य नश्यानि''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
यावत्प्रवर्तनं लोके तत्तेषामज्ञताफलम् ।
निवृत्तिर्ज्ञानसाम्राज्यं'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।१८॥
कर्मकर्त्रादिकल्पाः स्युर्देहादिष्वनुबन्धिनः ।
पूर्यते तैर्न कश्चिन मे'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

इच्छा बन्धो न मे हानिर्ज्ञानमात्रस्य दर्शिनः।
पूर्यते ज्ञानमात्रेण…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

ननाचेष्टे न मे लाभश्चेन्न चेष्टे न मे क्षतिः।
ज्ञानमात्रैव चेष्टा मे…स्यां स्वस्म स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

तत्त्वज्ञो जायते मूको लुब्धैस्त्यक्तमिदं छलात्।
शान्तिस्तु तत्त्वतस्तत्त्वे स्यां स्वस्म स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

तत्त्वज्ञ आलसो भूतो लुब्धस्त्यक्तामिदं छलात्।
नैष्कर्म्य एव शान्तिस्तु…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

मनो मे न स्वभावोऽहं मनःकार्यं न तत्फलम्।
औपाधिकमसत्स्वेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

यत्रैव भाति रागादिः सोऽहं रागादिनैव हि।
रागादौ निर्ममस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

अन्यथानुपपत्तेः स्याद्रागादेः कर्म कर्तृ हि।
तत्कर्म व्याहतिर्ज्ञप्तौ…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

जागृतिः शयनं पानमत्तिर्वाग्दर्शनं श्रुतिः।
ज्ञप्तिक्रियस्य किं कृत्यं…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

सङ्कल्पेऽजनि संसारो ज्ञाने नश्यति कल्पितः।
निर्विकल्प रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

परायत्ताः परार्थाः स्वायत्तं ज्ञ नस्य वेदनम्।
पराश्रये न भावानि…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

राज्ये क्लेशः क्षणं यत्नो भिक्षावृत्तौ तु तत्त्वतः
तत्त्वं हि नोभयत्रास्ति""स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥
परस्थितेः परं स्थानं पराभावा हि स्वस्थितेः ।
तत्त्वं तु नोभयत्रास्ति"'स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥
जनौघे वाङ्मनःकर्म चैकाग्र्यावसरो वने ।
तत्त्वं तु नोभयत्रास्ति"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥
ज्ञानदृष्टौ क्व मोक्षाख्या क्वार्थः कामः क्व धर्मकः ।
सहजानन्ददृष्टिः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥
किं कुर्वं क्व रमै चित्तमस्थिरं चाहितं जगत्
ज्ञानमात्रे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥
कर्तृत्वं न स्वाभावो मे क्रिया एता उपाधितः ।
वातवच्छुष्कपर्णस्य.-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥
वृत्ति दृष्टौ तपो व्यर्थं निवृत्तौ न क्षतिः कुतः ।
ज्ञप्तिरेव निवृत्तिश्च ··स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥
परे दृष्टे न दृष्टः स्व; दृष्टे न विकल्पना ।
अविकल्पेन सन्तापः" स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥
मयि सौख्यं मया मे मत् ज्ञप्तिभिन्नं न साधनम् ।
आगृह्णानि कथं वृत्तौ"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥
नाहं देहो न जातिर्मे न स्थानं न च रथकाः ।
गुप्तं ज्ञानं प्रपश्यानि"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

इति चतुर्थाह्निकम् ।

क्वान्योऽहं क्व च चिन्ता क्व कैक प्रत्ययं क्व शुभाशुभम् ।
इमे स्वस्माच्च्युतेस्तर्का... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥

को दूरे कश्च सामीप्ये को बाह्ये को मयि स्थितः ।
ज्ञानमात्रमहं यस्मात् ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥

सञ्चितं कर्म चेदस्तु तेन स्पृष्टोऽपि नोह्यहम् ।
अद्वैतोऽहमयं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥

ग्रामे वने निवासो मे विकल्पोऽनात्मदर्शिनः ।
स्वे ज्ञाने ज्ञस्य वासोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥

यातायाताणुपुञ्जेऽयं देहोऽहं तु स्थिर परः ।
मे प्रवेशो न कस्मिश्चित्....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ४४॥

व्यवहारे परावस्था निश्चये ज्ञानमात्रता ।
ज्ञानमात्रे परा शान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥

रागादिवर्णतः प्रत्यग्ज्ञाते प्राप्स्यामि शं शिवम् ।
विकल्पो विघ्नकृद्यातु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥

देशो देहश्च भिन्नात्मा विकारस्तत्प्रयोगतः ।
सर्वे भिन्नाः स्वतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥

नाकारो न विकल्पो न द्वैविध्यं न विपत्तयः ।
स्वः स्व एव शिवस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥

कष्टे प्राणानुपेक्षन्ते ज्ञानं रक्षन्ति योगिनः ।
ज्ञानं ज्ञाय प्रियं तत्स्वे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४९॥

ज्ञानमस्तीति कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च ततोऽन्यके ।
त्रिकालेऽपि न तत्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥
दृश्यं न दर्शकस्तत्त्वमुभे संयोगजे दृशे ।
किन्तु ज्ञायकभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥
यदा देहोऽपि नैवाहं नृस्त्र्यादेस्तर्हि का कथा ।
ज्ञानमेवास्ति देहो मे⋯स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५२॥
यत्र वासो रतिस्तत्र तत्रैकत्वं ततो निजे ।
उषित्वा ज्ञानदृष्ट्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥
यज्ज्ञानेन जगन्मन्ये तत्र मे किं ग्रदादृदिः ।
स्वादृतिः सा स्ववृत्तिर्हि⋯स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५४॥
कः कस्य कीदृशः केति देहमप्यविशेषयन् ।
सहजानन्दसम्पन्नः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५५॥

समाप्तोऽयं द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः—

नश्वरे चेन्द्रियाधीने सुखे सारो न विद्यते ।
का रतिस्तत्र विज्ञस्य⋯स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
यतो ऽन्ते क्लेशदाः सर्वे सम्बन्धा, विपदास्पदाः ।
ततः संगं परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥
यौवनं जरया व्याप्तं शरीरं व्याधिमंदिरम् ।
समृत्यु जन्म कः सारः ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
येषां योगो वियोगो हि नियमेन भविष्यति ।
तेभ्यो नु किं मुधाऽखिन्दम् "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥
फेनपुञ्जेऽपि सारः स्यान्न तथापि शरीरके ।
विरज्य देहतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
विषं पीत्वाऽपि जीवेच्चेन्न भुक्त्वा विषयं सुखी ।
विरज्य भोगतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
देही कश्चिन्न यो मृत्युं न प्राप्तस्तर्हि को मम ।
त्राता स्ववृत्तिरेवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
बालवृद्धयुवग्रासे यमस्य समता भवेत् ।
साम्यपुञ्जस्य मे किं न⋯स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥
रागद्वेषौ हि संसारः संसारो दुखपूर्णिमः ।
संसारतो विरज्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
संसारजो हि पर्यायः संसार उपचारतः ।
त्यक्त्वा तन्मूलसंसारं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥

यत्र रागवशः प्राप्तं योनिदेशकुलं न तत् ।
मुक्त्वा रागमतः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥

कीटो भूपो नृपः कीटो जायते विषमे भवे ।
स्वास्थ्यमेव स्थिरं स्थानं''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥

प्राप्ता ये दुर्गतेः क्लेशाः भ्रान्त्या भ्रान्त्वा भयेच ते ।
मुक्त्वा भ्रान्तिमतः कालात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३

आपत्पूर्णे भवे ह्येको भ्राम्यामि तत्त्वतो निजे ।
उपयोगे ततः स्वस्थः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥

देहान्तरं व्रजाम्येको देहमेकस्त्यजाम्यहम् ।
परद्दाष्टिं हि तत्स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥

वियोगयोगदुःखादौ किञ्चिन्मित्रं न तत्त्वतः ।
स्वाविष्टःस्वस्य मित्रं स्वः''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व०॥१६॥

यदन्येषां कृते चेष्टै, एको भुञ्जै हि तत्फलम् ।
स्वस्मै तत्रापि चेष्टासीत्...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१७॥

इति पंचमान्हिकम्

कारणं सर्वदुःखानां स्वज्ञानाभाव एव हि ।
येनैको वञ्चितस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

असंकृतेर्हि वस्तूनां स्वस्य स्वेनैव बद्धता ।
स्वे क्षणे बद्धता नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

बन्धैकत्वेऽपि देहादेर्भिन्न एव स्वभावतः।
परभिन्नात्मवृत्तिः सं···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥
देहादेव यदा भिन्नः कथं बन्धुभिरेकता।
विभक्तस्य सदा सौख्यं···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥
देहोऽणुव्रजजः स्वात्मातीन्द्रियो ज्ञानविग्रहः।
स्वात्मन्येव स्थिरस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥
यैरर्थैर्मम सम्बन्धस्ते स्वरूपात्पृथक् सदा।
तत्स्वदृष्ट्याऽसुखं तेन-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥
पलास्थिरुधिरे देहे स्वबुद्धया क्लेशभाग्भवेत्।
तत्र रागे न को लाभः ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥
देहो न शुध्यते सिन्धोर्वारिभिः शुध्यते त्वयम्।
स्वात्मा स्वात्मधिया तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२५॥
दुःखाश्रयो हि देहोऽयं देहतो व्यसनानि वै।
वि·ज्य देहतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥
निन्द्यं देहेऽप्युषित्व त्मसिद्धिः शक्या वसन्नपि।
विरज्य देहतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥
म·ावाक्कायिकी चेष्टेच्छातो दुःखं ततस्ततः।
इ· च्छां प्रज्ञया भित्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥
शुभः कषायमान्द्येनाऽशुभस्तीव्रकषायतः।
अकषायेन शं नित्यं···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

मनोवाक्कायवृत्तीनां निवृत्तेरुपदेशनम् ।
स्वस्थित्यै स्वस्थितौ शांतिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२०॥

मनोवाक्कायवृत्तिश्चेच्छुभैवास्तूपदेशनम् ।
स्वस्थित्यै स्वस्थितौ शांतिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

शुद्धोपयोगलक्ष्येनात्मा स्वयं रच्यते तदा ।
स्वस्मिन् स्वमेव वेत्त्यस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

नश्येते निर्ममत्वेन रागद्वेषौ ततः सुखम् ।
निर्ममत्वं विचिन्त्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

मुक्तस्त्वेदं कल्पनाजालं मनोऽदो निश्चलं भवेत् ।
न क्लेशो निर्विकल्पः सन्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

ज्ञानं ज्ञानं न कोपादि तत्तज्ज्ञानं न सुस्फुटम् ।
स्वस्मिन् ज्ञानं स्थिरीभूय स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

तप इच्छानिरोधोऽतः कर्मनिर्जीर्यते ततः ।
तपस्तप्त्वा च शुद्धः सन्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

अग्निना काञ्चनं यद्वत् तप्यमानस्तपोऽग्निना ।
शुद्धीभूय लभै स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

विरागपरिणत्या मे जायते कर्मणां क्षयः ।
रागभिन्नमतो विन्दन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

बाह्यं तपोऽपि नाक्षायाशाया यस्मात्तपस्यपि ।
आशानाशाय सेवै स्वं, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

धर्म उद्धारकस्त्राता पावको बान्धवो गुरुः ।
सोऽहं रागादिकं मुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
धर्मो वेषे न यात्रायां बन्दने न च मन्दिरे ।
धर्मे ज्ञप्तिमये तिष्ठन्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
मोहक्षोभौ न यत्र स्तः स धर्मो वीतरागता ।
सा मे परिणतिस्तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
लोके रिक्तं न तत्स्थानमनन्ता जन्ममृत्यवः ।
नाभूवन् यत्र किं स्वर्थे…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥
लोकं कृतवान्न कोपीमं हरिष्यत्यपि नो तथा ।
अमरोऽहमजन्माहं, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥
लोके द्रव्याण्यनेकानि वर्तन्ते किन्तु वै निजे ।
अहन्तां किं पुनः कुर्यां…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥
इति षष्ठाह्निकम्

अक्षिपूर्णत्वसज्जातिध्यादिदुर्लभवस्तुनि ।
प्राप्ते लाभो यदि स्वस्थः…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥४६॥
आत्मयाथात्म्यविज्ञानं दुर्लभादपि दुर्लभम् ।
लभे रमे च तत्रैव…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥
यस्य ज्ञायकभावस्य स्वस्य वित्तिं विना जगत् ।
ज्ञातं व्यर्थं हि तं ज्ञात्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥
समाप्तोऽयं तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

ज्ञानं सुखं न चान्यन्न ज्ञोऽहं ज्ञानमहं सुखम्।
सर्वाशामहितां त्यक्त्वा, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥

ज्ञायकोऽजोऽमरोऽहं को जीविताशां करोमि किम्।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२॥

अदृश्यो ज्ञायकोऽहं कां कीर्तिमिच्छानि काविह।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥

ज्ञायकस्याप्यबद्धस्य विपयाशैव बन्धनम्।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

आशात्यागो हि मे बन्धुर्मित्रं भ्राता गुरुः पिता।
तस्यैव शरणं सत्यं''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥

नैराश्यापि हि नैराश्यं तस्य का तुलना भुवि।
अतो नैराश्यमालम्ब्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥

वीततृष्णस्य केऽप्यर्थाः क्लेशदाः सुखदा नहि।
ततोऽर्थाः स्युर्न वास्तवाः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥

सतृष्णस्य सदाकुल्यमर्था सन्तु न सन्तु वा।
भीसारं न भवोदिच्छा''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥

पूर्ण कस्यापि कृत्यं किं ? चिकीर्ष्येऽद्वन्द्वता कदा।
न चेत्त्यक्त्वा हि सर्वाशां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥

प्रवृत्तावेव नानात्वं निवृत्तावेकरूपता।
शान्तिमार्गे निवृत्तिर्हि''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०

लोभादधस्ततः क्लेशोऽतस्तृष्णालुः सदाकुलः ।
वीततृष्णः स्वभावो मे ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
तृष्णा बन्धश्च संसारोऽतार्ण्यं मुक्तिः स्वतन्त्रता ।
वीततृष्णः स्वभावो मे ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
तार्ण्येऽतार्ण्येऽपि वस्तूनां वियोगो नार्थकृत् ततः ।
वीततृष्णः स्वभावो मे ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
पूर्यते पुण्यकामार्थैर्न किञ्चिन्मे ततो हि तान् ।
त्यक्त्वात्मन्येव तिष्ठेयम् .. स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
भूतो भवेषु सम्पन्नो न तुष्टोऽभूदनर्थता ।
मायाविनीं किमाश्रासे .. स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥
पुण्यापुण्यफलं दृश्यमदृश्या चिच्चमत्कृतिः ।
वीततृष्णस्य स्वस्थस्य ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
वर्तते मेद्य किं सम्पज्जन्मजन्मार्जितं यशः ।
दूरमास्तां विपन्मूलं .. स्यां, स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
स्वात्मचिन्तापि चिन्तैव चिन्तास्वानन्दबाधिनी ।
सर्वचिन्तां विमुच्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥
वित्तं विपयदस्युः क्व मित्रं शत्रुः क्व पाटवम् ।
तन्मूलाशा न मे यस्मात् .. स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

इति सप्तमाह्निकम्

निर्वाणं भोगवैरस्यं बन्धो भोगेषु गृद्धता ।
स्वायत्तमेव निर्वाणं''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

भोगमोक्षैषिणोऽनेके वाञ्छाहीनो हि दुर्लभः ।
स एव सहजानन्दः..स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

ज्ञाने रतस्य धर्मार्थकाममोक्षे जनौ भृतौ ॥
हेयादेयेऽपि चिन्ता न''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

लाभेऽपि भूतिकीर्तीनां तत्त्यागेन विना न शम् ।
प्रत्याख्यानमये ज्ञाने'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

मुमुक्षुर्यो बुभुक्षुश्चालम्बतां हि शिवाशिवम् ।
इच्छाहीनः स्वविश्रांतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

देहादिकं पृथक्कृत्य ज्ञाने तिष्ठानि केवले ।
स्यानि भोगयशोवाञ्छा.'स्यां स्वस्मै स्वे सुखी, स्वयम्॥२५॥

इदं ज्ञानं न मे ज्ञानं दर्शनं च न दर्शनम् ।
चिन्तयालं न मेऽन्तर्वाक्''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२६॥

यशस्वी वैभवी वा स्यां शान्तिस्तत्रापि नो यतः ।
इन्धनं तदशान्त्यग्नेः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

आर्तकारणमात्रैव कमाश्रासेऽत्र को मम ।
दूरमास्तां न मेऽर्थो हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

बहिर्बाहिर्भ्रमो व्यर्थो ज्ञानतत्त्वमिदं स्फुटम् ।
इतोऽन्यन्मे सहायं न'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

मूढोऽन्यममृतं मत्वा भ्रमेन्मे त्विह निश्चयः ।
ह्येकत्वममृतं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

रागद्वेषपरित्यागे कर्म मे किं करिष्यति ।
त्यागो हि केवलं ज्ञानं···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

रागो योगेऽपि हेयश्चेदसम्बन्धे पुनर्न किम् ।
अयोगे रागता चेद्धा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

शुद्धात्मानं विहायान्यचिन्ता पापोदयस्ततः ।
अन्याचिन्तां पृथक्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

पराश्राजीवितो मूढः स्वातन्त्र्यं मन्यते बुधः ।
शं स्वातन्त्र्यं विना नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

देवभक्तावपि ध्यानं मात्रः स्वस्यैव वर्तते ।
स्वः स्वस्मै शरणं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

किं स्वानुकूलनेऽन्येषां किं स्वस्यान्यानुकूलने ।
शं स्वानुकूलने स्वस्यै··स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

न हानिः सहजे ज्ञाने किन्त्विदानीं न सा दशा ।
अतश्चिन्तानिरोधेन··· स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

सुखं हि सर्वसन्यासस्तु कुर्वे सर्वसंग्रहम् ।
दुःखोपायेन किं शं स्यात्··स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

परसंगरतो बद्धः स्वस्थो मुक्तोऽपरो ग्रहः ।
तस्याग्राह्यस्य ग्राह्यस्य ···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

सुखायान्यत्प्रतीक्षैव सुखहत्या मता यतः ।
सुखेनास्मि स्वयं पूर्णः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
उत्तमस्त्याग आशा न प्रतीक्षा यत्र वर्तते ।
परादृष्ट्यां न सा स्वास्थ्ये ''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
भोगे योगे न शान्तिस्त्विच्छाहीनो वर्तते हि यः ।
शान्त्याधारः स एवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
कृपां कर्त्तुं न शक्योऽन्यो मय्यहमेव तत्क्षमः ।
ततोऽन्याशां परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥
सुखं नैराश्यमेवास्ति दुःखमाशैव केवलम् ।
स्वदृष्टेः काचिदाशा न'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥

इति अष्टमाह्निकम् ।

इन्द्रोऽप्याशान्वितो दुःखी गताशोऽसंगकः सुखी ।
स्वास्थ्यमेव गताशत्वं''' स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥
आशा गतास्तदा सिद्धिर्नाभिलष्यं यतस्तदा ।
स्ववृत्तिस्तत्पदं तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥
यावन्मूर्छास्ति कस्मिंश्चित्तावन्निःशल्यता न हि ।
स्ववृत्तौ नास्ति मूर्छातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥
देहिनां देहभोगानां दुःखं संयोगतस्ततः ।
संयोगं कस्य वाञ्छानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥

समाप्तोऽयं चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

यदाप्नोति सुखं स्वस्थो न तल्लेशं प्रतिष्ठितः ।
स्वास्थ्ये शं न हि रागेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
चिन्तेच्छया ततः क्लेशो गताशः सौख्यसागरः ।
गताशं मंगलं स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥
आकिञ्चिन्यभवं स्वास्थ्यं स्वास्थ्यं सुखस्वरूपकम् ।
न किञ्चिन्मे न किञ्चिन्मे''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
यदा यत्कर्तुमायात्तदायातु चेन्न मया कृतम् ।
ज्ञप्तिमात्रविधौ शक्तः'' स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥
शास्त्राण्यधीत्य स्वास्थ्यं न सर्वविस्मरणाद्विना ।
तस्माद्विकल्पनास्त्यक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
ज्ञात्वालसः श्रमं व्यर्थं नेत्रोन्मेषनिमेषयोः ।
स्वस्थः सुखी स एवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
दिव्येशोऽपि साक्षाच्चेद्-विना स्वास्थ्यान्न मंगलम् ।
सुखदुःखे स्वयं दायी''''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
विश्वं सुखांशमूलं न, शं ज्ञानत्यागयोः फलम् ।
स्वे रमै स्वे च तुष्यानि,'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥
अद्वैते स्वेऽस्तु दृष्टिर्मा, द्वैतेऽद्वैते न सम्भ्रमः ।
विपज्जन्म न मृत्युर्वा,'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
यत्र कुत्राप्यवस्थायामस्मि तत्रैव यत्नतः ।
कृत्वा सत्याग्रहं शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१०॥

काश्चित् कालश्च देशः स्यात् पूर्तिर्मे तद्गुणैर्न हि।
शुद्धवृत्तिर्यतः स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
मे चैतन्यस्य शास्त्रं क ? चर्चा ज्ञानं क कल्पना ?
स्वतो बहिर्न धावानि ··· स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
मे चैतन्यस्य भोगः क ? तृप्तिस्तृष्णा क बन्धनम् ?
क्वाज्ञानं क विपत्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥
दुःखे ज्ञानच्युतिर्न स्यात्, कायक्लेशेऽपि स्वास्थितिः।
उद्देश्य ज्ञानिनस्तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
न स्वज्ञप्ति विना ध्यानं यतः स्वोपासनामयम्।
शुद्धात्मोपासनं तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥
ज्ञप्तिस्त्वस्तिहं सर्वत्र, स्वबुद्धेः स्वस्य दर्शनम्।
स्वाचरणं ततोऽस्त्वस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥१६॥
सुभ्रमत्तदशा लोके, भ्रमो हि स्वच्युतौ दशाः।
सर्वाभ्रमास्ततः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
यव्रतामव्रती वृत्ते, न तुष्येत्तु व्रती व्रते।
ज्ञानास्थितिर्व्रतार्थोऽतः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥
पुण्यपापे व्रताव्रतैर्मोक्षस्तद्द्वयशून्यता।
ज्ञानमात्रस्ववृत्तिः सा, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥
शृण्वतो वदतोऽप्यात्मचर्चां न ज्ञानभावनाम्।
विना मुक्तिस्ततोऽत्रैव, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

मनोवाक्कायवृत्तीनां, ग्रहणे संसार एव हि ।
रमै ततः पृथग्ज्ञाने, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

इति नवमाह्निकम् ।

वदानीच्छानि पृच्छान्यात्मानं ज्ञानमयं शिवम् ।
अत्रैव विहराण्येष, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥
भिन्ने स्वस्य धिया स्वस्माच्च्युतो बभ्राम्यतः परा- ।
च्च्युतः श्राम्यानि बुद्ध्या स्वे,''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥२३॥
स्वस्थं स्वं पश्यतो मे न, रागद्वेषौ कुतोऽसुखम् ?
शंका शल्यं कुतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥
भ्रान्त्या क्षुब्धं मनस्तस्मादुग्रता नान्यथा भवेत् ।
स्वं पश्यतो न मे हानिः''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥
तत्किं यन्मयि मुञ्चानि ? यन्न तत्किं नयानि वै ?
जानन्नेवं हि तिष्ठानि''' स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥
जीवाजीवपृथग्ज्ञानान्निवृत्तिर्जायते परात् ।
ततः स्वास्थ्यं ततः शान्तिः ''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२७॥
स्वस्थस्य सहजानन्दोऽक्षोभतायाः परच्युतेः ।
एकत्वनियतिः स्वास्थ्यं''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥
संविच्यभ्यासशिक्षातः स्वान्यभिन्मोक्षसौख्यवित् ।
स्वस्थिविमोक्षसौख्यं हि, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९२॥

स्वालक्ष्योऽन्योपकारी चेत्क्लिष्टः परकृतावपि ।
स्वलक्ष्योस्मान्न मुच्येत.....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

निर्द्वन्द्वेऽजेऽमरे शान्तेऽद्वैत ज्ञानिनि निर्ममे ।
स्वस्मिन् स्थित्वा स्थिरो भूत्वा, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥३१॥

ज्ञस्वभावे मयि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं स्वभावतः ।
तत्र स्थितौ सुखं तस्मात्, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३२॥

कल्पनालोलकल्लोलैस्त्यक्तःशान्तः स्वयं सुखी ।
तत्राश्रयः परो नास्ति.....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

इदं सुखमिदं दुःखमज्ञस्यैव हि कल्पना ।
स्वच्युतौ सर्वकः क्लेशः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

नृत्वं कुलं मतिः सत्त्वं, सत्संगो देशना व्रतम् ।
स्वस्थित्यर्थाय सन्त्यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥३६॥

रागिणो जन्मने मृत्युर्वीतरागस्य मुक्तये ।
स्वास्थितेर्वीतरागत्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

वर्षाद्यं नूतनं लोके, तत्त्वतस्तत्त्वबोधनम् ।
स्ववृत्तिर्यत्र तत्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

स्वयं यत्कर्तुमायाति तत्कृतौ न विपत्कचित् ।
अन्यथा क्लेशता तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

संयमेन नगो धीरो गम्भीरः शल्यनिर्गतः ।
संयमः स्वस्थितिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥

यावद्दूरं कषायेभ्यस्तावान् धीरः सुखी बुधः ।
अकषायः स्ववृत्त्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
रागद्वेषोदयस्तस्मिन्नवहं का कृपा कृता ।
स्ववृत्तिः स्वदया तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
बंधिका किन्न चेष्टेयम् चेष्टेयं किन्न बंधिका ।
स्थित्वा ह्यचेष्टिते भावे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
दुखं द्वन्द्वश्च संतापो विपत्तृष्णान्ययोगतः ।
एकेऽनिष्टं न किञ्चिद्धि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥
कषायविषयत्यागे, स्वास्थ्यमन्तर्बहिर्द्वयम् ।
तत्त्यागो ज्ञानमात्रं हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥
परैः शरणमान्यत्वं नाशोऽशरणमान्यता ।
सुखं स्वः शरणं तस्मात् स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥४५॥
दुःखमूलं स्व धीरन्ये न परेऽर्थाः परे परे ।
स्वच्युतिः सा च स्वस्थोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४६॥

इति दशमाह्निकम्

स्वलक्ष्यतः महादुर्गस्तत्रत्यस्य न बाधनम् ।
तत्र गुप्तो न जेयोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥
स्वलक्ष्यता सुधासिन्धुस्तत्रत्यस्य न तापनम् ।
तत्रानिष्टः सदा शान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४८॥
पापोदये न हानिर्मे हानिः पापमये निजे ।
पापं परच्युतिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४९॥

पुण्योदये न लाभो मे लाभः पुण्यमये निजे ।
पुण्यं स्ववृत्तिता तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥

प्राङ्मया चेष्टितं यत्तत्स्वकषायविचेष्टितम् ।
अकषायः स्ववृत्तिः शं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥

मनोवाक्कायिकी यावच्चेष्टेच्छा तस्ततोऽसुखम् ।
सुखं स्वास्थ्यमनिच्छा तत् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५२॥

भ्रमे नष्टे यथा स्वप्ने तथा भ्रान्तिर्हि सर्वदा ।
निष्क्रियोऽहं यतः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥

समाप्तोऽयं पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः—

सर्वेऽर्थाः सर्वथा भिन्नाः कृत्यं किं तत्र वर्तते ?
ते सर्वे तेषु तिष्ठन्तु....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥

चेष्टन्ते स्वकषायेण प्राणिनो मे न वाञ्छकाः ।
केषु मोदै च शोचै किं...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥

ये दृश्यास्ते न जानन्ति जानन्तो निर्विकल्पकाः ।
कं ब्रुवाणि क्व तुष्याणि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥

स्तोतारः क्षणिकाः सर्वे स्तुत्यमन्यः क्षणक्षयी ।
तुष्यः कस्तोषकः कश्च...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

स्तुत्यं वृत्तं क्षणस्थायि क्षणिका वाङ्मयी स्तुतिः ।
न मे वृत्तं न मे वाणी.. स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥

लोकोऽसंख्येयोऽमितः कालोऽनन्ताः जीवाः कदा कदा ।
स्तोष्यन्ते क्व क्व के केऽतःस्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥

स्वैःकृत्वेऽनुगताः स्वेभ्यः स्वस्य कुर्वन्ति ते क्रियाम् ।
भ्रान्त्या विमुह्य किं स्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥

पुण्यं पापं सुखं दुःखं चेष्टा वाणी च कल्पना ।
विडम्बनाः परात्सन्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥

सम्पदा विपदा भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे ।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥

अयशो वा यशो भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे ।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि....स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१०॥

जीवनं मरणं भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे ।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥

मायास्था मयि हृष्टाः स्युः, रुष्टा मे ज्ञस्य का क्षतिः ?
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि...स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१२॥

ज्ञानी ज्ञानरतोऽज्ञानी मायास्थः परलोचकः ः
मायास्थवाचि को रोषः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥

ये स्तुवन्ति च निन्दन्ति, ते दृश्यं न तु मामिमम् ।
शंसा निन्दा न गुप्तस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥

प्रशंसया न मे लाभो निन्दया का च मे क्षतिः ?
एवं हन्म्येव विकल्पेन ··· स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥१५॥
ज्ञानमात्रमहं तस्माज्ज्ञानादन्यत्करोमि किम् ?
किं त्यजानीह गृह्णीयाम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
संसारवाहिमूढेनास्म्यमभ्रान्तवेदिनः ।
अलिप्तो हि सदा शान्तः··स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
रागद्वेषौ हि संसारो, भ्रमात्तत्रोपयोजनात् ।
शुद्धं शांतं विजानीयां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

इति एकादशमाह्निकम् ।

अन्तर्बाह्यं जगत्सर्वं नश्वरं तत्र किं हितम् ?
कर्तव्यमितरद्व्यर्थं···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥
स्वतन्त्रोऽहं परास्तेषां तंत्रो योगवियोगयोः ।
कथं हृष्याणि खिन्दानि···स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥२०॥
ज्ञानेन ज्ञानमात्रोऽहं भवाम्यन्यगुणानपि ।
साक्षात्कर्तुः कुतः क्षोभः, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥
ज्ञानस्य चेष्टयाऽचेष्टोऽचेष्टीभूतः कृती स्वयम् ।
अचेष्टनं द्वयोः सारः स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम् ॥२२॥
ध्याने स्तुतौ च यात्रायां मनोवाक्कायखेदनम् ।
निर्विकल्पे कुतः खेदः? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥
विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्ति विषयस्पृहः ।
साक्षी रक्तो विरक्तो न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

सुखं दुःखं स्तुतिं निन्दां कस्य कर्त्तुं हि कः क्षमः ?
किं श्रमं स्वच्युतेः कुर्याम् ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

सुखे दुःखे च को भेदो ? द्वयोराकुल्यवेदनम् ।
शान्ते ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

नृस्त्र्यो रूपे कुरूपे वा को भेदोऽशुचिता समा ।
आकुल्यकारणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

सम्पद्विपत्सु को भेदः ? क्षोभः जाड्यकरीषु वै ।
शांते ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

सेवासेवे समे चेष्टे कषायस्याघपुण्ययोः ।
फले ज्ञप्तिस्तु तत्वं मे ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

सर्वेऽनन्तगुणोपेता न स्तुतो पूर्णवर्णनम् ।
किं कं कथं स्तुत्यां तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ३०॥

प्रयोजनं न मे मत्तोऽन्यत्त तिसद्धिर्न वान्यतः ।
किं कं कथं स्तुत्यां तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

तेषामौपाधिका मात्रा आसन् ये सन्ति निर्मलाः ।
किं कं कथं च निन्दानि ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

नैर्मल्यं नान्यनिन्दातो, मालिन्यं शल्यमेव च ।
किं कं कथं च निन्दानि—स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

प्रशंसकेन दत्तं किं ? क्षोभं कृत्वा पलायितः ।
किं हितं तेन किं शान्तैः ... स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

निन्दकेन हृतं किं मे ? दोषमुक्त्वा स्थिरीकृतः ।
का क्षितिस्तेन किं रोचै 'स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।३५॥
ज्ञप्तिक्रियस्य मे वृत्तौ निवृत्तौ चाग्रहः कुतः ?
यत्कर्तुमपि चायातु "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥
मानापमानतां मोहे पर्याप्तस्य न चान्यथा ।
तद्विविक्तस्य न क्षोभः"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥
परान् शिक्षे परैः शिष्ये मोहचेष्टैव नान्यतः ।
गुणो ह्यन्येऽपिकल्पोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥
स्वद्रव्यक्षेत्रभावानामास्तौ भवति शुद्धता ।
नान्यभावविकल्पोऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३९॥
कर्म कर्महिताय स्याच्चेदहं स्वाहित य हि ।
हितं नैर्मल्यभावोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४०॥
ज्ञानी शत्रुः कुतो भिन्नमज्ञः कस्य सुहृद्रिपुः ।
स्वपरस्थ ः सुहृच्छत्रुः "स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥
स्वैकत्वस्याप्त्युपायो मे साम्यं नान्यत्कदापि हि ।
साम्यघातः परे बुद्धः"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥
साम्यं विशुद्धविज्ञानं साम्यं विवर्जितम् ।
साम्यं स्वास्थ्यं सुखागारः"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४३॥

इति द्वादशमाह्निकम् ।

मुनीन्द्रैरपि पूज्यं तत्साम्यं सर्वोत्तमं पदम् ।
साम्यं स्वस्य स्वयं रूपं"स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४

मानापमानयोः साम्यं कीर्त्यकीर्त्योः सुखासुखे ।
व्यग्रता पश्यतो न स्यात्…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४५॥

शंसा निन्दा विपत्सम्पत्स्वाकुलतैव केवलम् ।
नैर्द्वन्द्व्यं ज्ञानमात्रेऽस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥

अन्यवृत्तेर्न मे बाधा, बाधा स्वस्य विकल्पतः ।
प्रज्ञयाऽनाश्रयीकृत्य…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४७॥

स्वाख्येच्छाजाऽन्यनिन्दा स्यात्तस्मान्निन्द्यो हि निन्दकः ।
स्वं दृष्ट्वाऽनिन्दकाऽनिन्द्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥४८॥

सर्वे समाः समे मैत्री मैत्र्या शांतिर्मतेह च ।
सुखं साम्यं हि तत्स्वास्थ्ये…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥४९॥

इष्टे न हर्षभावश्चेदानिष्टे स्यान्न खेदता ।
रुन्ध्वेष्टेच्छां स्वशोषेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५०॥

आत्मरूपेऽन्ययोगो न वियोगस्य च का कथा ?
कथं हृष्य णि खिन्दानि… स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५१॥

कल्पितेऽर्थेऽनुतर्केशं शमन्वर्थे च कल्पिते ।
स्वतन्त्रोऽर्थो हि सर्वोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्व० ॥५२॥

हृद्यसाम्यं रतौ मोहे तस्माज्ज्ञायकरूपिणम् ।
जानन्मुक्त्वा रतिं मोहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५३॥

यस्मिन्साम्ये विनष्टाः स्युराशाः साम्यं सदास्तु तत् ।
साम्येन सहजानन्दः…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५४॥

श्रद्धा वृत्तं श्रुतं ज्ञानं सत्यं साम्यं भवेद्यदि ।
तदेव स्वसुखं स्वास्थ्यं····स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५५॥

समाप्तोऽयं षष्ठोऽध्यायः

कौ दृश्यं नश्वरं सर्वं दुःखमूलं पृथक् हि तत् ।
निन्द्यं हेयमदस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥
न कोऽपि शरणं भूतो न च कश्चिद्भविष्यति ।
शरणस्य भ्रमं हत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥
न भूतो न भविष्यामि कस्यचिच्छरणं कदा ।
कर्तृत्ववारुणीं क्षिप्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥
बन्धुर्मित्रं सुतो दारा भृत्यः शिष्यः प्रशंसकः ।
एभ्यो येन हितं शक्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥

अथ सप्तमोऽध्यायः—

मृत्यौ सत्यां न यास्यन्ति केऽपि ये रागदर्शिनः
केभ्यः कुर्यामसद्ध्यानं····स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥
यथात्रसस्य नार्थाः प्रागन्यत्रेमे न केऽपि मे ।
क्व हितं क्व सुखं मृज्यां ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६॥
आस्तां दूरे पुरे वासः संगो दूरे जनैषिणाम् ।
दूरे प्रशंसकाः सन्तु··· स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥
सुखं सत्वं हितं तत्र तेभ्यः किञ्चिन्न वर्तते ।
न च वत्स्यामि तत्राहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८॥

दुःखं सुखं विपत्सम्पत् कल्पनामात्रमेव तत् ।
किं भिन्नं खेददं कल्पे'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९॥
पराधीनं सुखाभासं परकीयां कृतिं मुधा ।
लब्धुं क्लिश्नानि किं? स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी० ॥१०॥
स्वच्युतेर्हेतवो भोगा अशान्तिर्भोगवेदनम् ।
चेष्टे किमेतदर्थं ज्ञः'''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥
स्वयं भिन्ने च किं हेयं भिन्ने काऽऽदेयता मम ।
अन्तर्वर्यो ज्ञानमात्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥
किञ्चिदिष्टमनिष्टं न कल्पना क्लेशदा भ्रमे ।
नाहमज्ञानरूपोतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३॥

इति त्रयोदशमाह्निकम् ।

भोगभ्रमेण दुःखानि भ्रान्त्या भुक्त्वा हतं जगत् ।
आयापायेऽपि तापोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१४॥
त्वतेऽप्यहंत्वमज्ञत्वं अयोगी ज्ञो न दुःखभाक् ।
प्रीतिर्मे नास्तु कस्मिंश्चित्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥
कातरो लोकदृष्ट्यास्मि, स्यां लोका न सहाटिनः ।
मोहस्वप्नमिदं दृश्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१६॥
स्वबाह्ये न हितं किञ्चित् किं कल्पे शृणवानि किम् ?
जानानि किञ्च पश्यानि? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥
देहोऽस्तु वा न को लाभः? का हानि में तु शान्तिदा?
ज्ञानदृष्टिः सदा भूयात्,''स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

न मे द्वन्द्वो न मे संगः सर्वकृत्यं हि मत्पृथक् ।
कस्मै स्यामाकुलोऽद्वैतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९॥

सर्वसारमिदं कार्यं निवृत्तिः सर्वकार्यतः ।
ततो विस्मृत्य सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२०॥

पुण्यार्थभोगसम्बन्धाः सन्त्यनर्थपरम्पराः ।
एषु कृत्यं हितं किं मे, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२१॥

जीवनं मरणं किं को लोकः का चास्ति लीनता ?
मायारूपाणि सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२॥

सर्वचिन्ताकषाचेष्टाभिरलं तासु नो हितम् ।
यतो निष्क्रियभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२३॥

चैतन्ये मयि नो देहो न प्राणा इन्द्रियाणि वा ।
रागादिस्तान् कथं यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२४॥

क्षेमंकरोऽक्षभोगो न तत्राज्ञः सन् कथं रमै ।
क्षेमंकरः स्वयं स्वस्मै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२५॥

दृश्यो रम्यो न विश्वास्यो ज्ञानमात्रमहं यतः ।
विश्वसानि रमै काहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२६॥

त्यागादाने परे भिन्ने किमौपाधिक एव हि ।
हेयोऽनाश्रित्य तं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२७॥

दृश्यं जडमदृश्योऽन्यश्चेतनश्च तथा पृथक् ।
कास्मिन् रुष्याणि तुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२८॥

वृक्षे खगा इवायांति घ्नणं यान्ति स्वकर्मतः।
विश्वास्यं मे किमज्ञातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२९॥

एकान्तेऽस्तु निवासो मे सर्वविस्मरणं भवेत्।
संयोगेन न मे लाभः…स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३०॥

भोगाः भुक्ता मुहुस्त्यक्तास्तानुच्छिष्टान् किमर्थये।
ज्ञानमात्रं हि भुञ्जानः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३१॥

भुक्त्वा त्यजानि भावोऽयं सत्याग्रो निवृत्तिस्तदा।
भावयेयं निवृत्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३२॥

निरायूरे क्षये हेतोः कालस्येच्छा हि तृष्णया।
तृष्णां स्वनाशिनीं मुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३३॥

परान् पश्यामि व्यापन्नान् तथा पश्यानि स्वं यदि।
दोषमुक्तः स्वलक्ष्यः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३४॥

स्वोपादानेन जायन्तेऽर्था जायन्ता न वा ततः।
हितं नैव निजं दृष्ट्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३५॥

आसमस्मि भविष्यामि सुख-दुःखेऽहमेककः।
परयोगे न लाभो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३६॥

खेदेन विषये वृत्तिर्वृत्तौ पश्चाच्च खेदता।
भोगः खेदमयस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३७॥

शंककाः मां न पश्यन्ति पश्यन्तो ह्यलक्ष्यलक्ष्यकाः।
कौ का निष्ठा निजास्थास्था स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३८॥

इति दशमाह्निकम्

भिन्नपूतिनोरास्या स्वं किं लाभयेत ततः
कों का निष्ठा निजास्थास्था… स्यां स्वस्मै स्वे सुखी ० ॥३९॥

नामाक्षरेर्न सम्बन्धो ह्यात्मनः किं तदाख्यया ।
कों का निष्ठा निजास्थास्था… स्यां स्वस्मै स्वे सुखी ॥४०॥

न किमेकदशारूपोऽनाद्यनन्तस्तद रुचिः ।
कास्तु मे लोकनिक्षेपे… स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४१॥

रागवह्निन्धनं दृश्यं किं संचित्येन्धनं स्वयम् ।
शीतलोऽपि पतान्यग्नौ… स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४२॥

मृत्यै के ह्युद्यताः मृत्युराया त्याः कस्मिकं ततः
सन्दिग्धायुषि सद्दृष्ट्या… स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४३॥

ज्ञातुं कथं श्रमं कुर्यां ज्ञेया भान्ति स्वयं ततः ।
सर्वभ्रमं परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४४॥

न भोगो भोक्तुमायाति सन् बुद्धिस्थोऽककारणम् ।
किं तं बुद्धिगतं कुर्यां… स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४५॥

कल्पनया यया प्राप्तोऽकल्प्यः सापि न मे यदा ।
कोऽन्यो भवः पुनस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४६॥

समाप्तोऽयं सप्तमोऽध्यायः ।

अन्त्याख्यानम्

ग्रन्थकर्तुः परिचयः

आर्या

बुन्देलखण्डे दुमीपुरवासि श्रीमद्गुलाबचन्द्रस्य
श्रीतुलसायास्तनयेन श्रीमद्गणेशशिष्येण
सहजानन्देन मनोहरेण सद्विशशततमे व्यब्दे
शुक्ले पौषे रचिता श्री सहजानन्दगीतियम् ॥ युगम् ॥

समर्पणम्

स्वस्ति श्री श्रीमतोऽध्यात्मसुधाब्धिर्महात्मनः ।
न्यायाचार्यस्य सार्वस्य विश्वख्यात्या वर्णिनः ॥ १ ॥
श्रीगणेशप्रसादस्य प्रसादेनानुशिक्षितः ।
श्रद्धानतः समाचारी दीक्षितो लोचनीकृतः ॥ २ ॥
ज्ञातस्वः सहजानन्दः शिष्यो वर्णी मनोहरः ।
संसारच्छेदसन्दृष्टा कृतज्ञोऽहं पदावलिम् ॥ ३ ॥
शिक्षादीक्षागुरोर्बाल्यगुरोश्चर्याप्रवर्तिनः ।
श्रद्धेयपुण्यसेवायामर्पयामि महादरम् ॥ ४ ॥
अर्पणस्य प्रसादेन स्वस्मै स्वे स्वयं स्वतः ।
अर्पयित्वा स्थिरीकृत्य स्वां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ५ ॥

॥ कुलकम् ॥

इति सहजानन्दगीता समाप्ता ।

अथ मूलश्लोकानामकारादिक्रमेण

शब्दानुक्रमणिका ।

ध